ओ३म्

सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्

R
875
SHA-S

सरस्वतीसम्मेलनस्य

द्वितीयं

वार्षिक मिति वृत्तम्

साहित्यपरिषदाप्रकाशितम् ।

R875,SHA-S
26821

पं० अनन्तरामशर्म्मणः प्रबन्धेन

स्थिर सामिति न बन

कांगड़ा गुरुकुलीये सद्धर्म्मप्रचारक-यन्त्रालये

मुद्रितम्

प्रथमावृत्तौ ६०० प्रति | सं० १९६६ वि० | मूल्यम् ।)

१४/१८
२ II (१)

सूचिपत्रम् ।

ओ३म्
पुस्तक संख्या ...... ८६५ / २II(2)
पञ्जिका संख्या २६८२१
पुस्तक पर सर्व प्रकार की निशानियां लगाना वर्जित है । कोई सज्जन पन्द्रह दिन से अधिक देर तक पुस्तक अपने पास नहीं रख सकते । अधिक देर तक रखने के लिये पुनः आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये ।

८६५/१९६१
२६८२१
CHECKED 1973
Initial

ओ३म् ।

मुखबन्ध ।

१९६४ संवत् के फाल्गुन मास के प्रारम्भ में जब गुरुकुल का षष्ठ वार्षिकोत्सव हुवा, उस अवसर पर गुरुकुल के पूजनीय मुख्याधिष्ठाता जी ने बहुत से विद्वानों को कुछ शास्त्रीय विषयों पर संस्कृतभाषा में विचार करनें के लिये इकट्ठा किया था। उन के सङ्गम का नाम 'सरस्वती सम्मेलन' रक्खा गया था। सरस्वती सम्मेलन में सम्मिलित विद्वानों नें एक दिन इस विषय पर विचार किया कि उस के कार्य्य को स्थिर करनें के लिये कोई स्थिर समिति बनाई जावे। परन्तु कई विषयों में मतभेद हो जाने के कारण उस समय कोई स्थिर समिति न बन सकी। उत्सव समाप्त होने के पश्चात् उन विद्वानों के उस विचार को मन में धारण कर के, गुरुकुल के आचार्य्य तथा उच्चश्रेणी के ब्रह्मचारियों ने मिल कर एक स्थिर समिति स्थापित की। उस का नाम 'साहित्यपरिषद्' रक्खा गया। साहित्यपरिषद् के बन जाने पर माननीयमुख्याधिष्ठाता जी नें 'सरस्वतीसम्मेलन' का कार्य्य 'साहित्यपरिषद्' को सौंप दिया। दूसरे वर्ष का सरस्वतीसम्मेलन 'साहित्यपरिषद्' के बन जानें से, उस की ओर से ही बुलाया गया था।

सरस्वती सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन फाल्गुन मास की १९, २० और २१ तारीखों में हुवा। 'सम्मेलन' में पढ़े गये

निबन्ध और विवाद आदि का वृत्तान्त आगे सविस्तर छापा गया है; यहां इस का संक्षिप्तरूप से वृत्तान्त दे देना भी उचित प्रतीत होता है ।

प्रथम दिन ।

सब से प्रथम पं० अखिलानन्द जी ने संस्कृत के श्लोक सुनाये जिन में सब से पहिले परमात्मा को नमस्कार था, फिर गुरुकुल का वर्णन, और सब से पश्चात् सरस्वती सम्मेलन की भावी कार्य्यवाही का वर्णन था । तत्पश्चात् पं० आर्य्यमुनि जी ने 'मायावाद' पर एक निबन्ध पढ़ा । उस में पण्डित जी ने माया के वेदान्तियों के लक्षण का खण्डन करते हुवे बताया कि उपनिषदों से कदापि मायावाद सिद्ध नहीं हो सकता । प्रथम दिन सभापति स्वामी हरिप्रसाद जी रहे । निबन्ध पढ़े जाने पर विवाद हुवा । विवाद में मुख्य आशङ्का जो कि निबन्ध पर उठाई गई, यह थी, कि निबन्धकार ने अपने निबन्ध में केवल उपनिषद्वाक्यों पर विवाद न कर के जो युक्तियों और व्यास सूत्रों से काम लिया है, वह अप्रासङ्गिक है ।

दूसरे दिन

भी सभापति स्वामी हरिप्रसाद जी ही थे । प्रारम्भ में ब्र० ब्रह्मदत्त ने ब्र० इन्द्र के बनाये हुवे संस्कृत के श्लोक उच्च तथा मधुर स्वर से पढ़े । श्लोकों में सब से प्रथम संस्कृत भाषा की उत्तमतायें वर्णित की गई थीं । तत्पश्चात् वेद का महत्व दर्शाया गया था और अन्त में कालिदास आदि संस्कृत कवियों की प्रशंसा

कर के संस्कृत की वर्त्तमान दशा का वर्णन किया गया था। उस के पश्चात् ब्र० जयचन्द्र नें 'निरुक्त के आर्य्यमतानुकूल' होने पर एक निबन्ध पढ़ा। निबन्धकार ने अपने निबन्ध में बताया कि यास्कीय निरुक्त में कई दोष हैं जिन से वह सर्वांश में उपादेय नहीं हो सकता। वे दोष ये हैं– अस्पष्टता, अर्थात् यास्क ने कई मन्त्रों के अर्थों में इतनी अस्पष्टता रक्खी है कि उन का न कोई सिर है, न पैर। दूसरा दोष जो निबन्धकर्त्ता ने निरुक्त में बतलाया यह था कि कहीं २ उस ने वेद मन्त्रों के सर्वथा बुद्धि से विरुद्ध अर्थ किये हैं–जैसे एक जगह यास्क ने यह लिखा है कि सूर्य्य की एक किरण से सारा चाँद प्रकाशित होता है, जो कि सरासर ग़ल्त है। तीसरा दोष अश्लीलता है। कहीं २ निरुक्त में मन्त्रों के यास्क ने अश्लील अर्थ कर दिये हैं। चौथा दोष निरुक्त में यह है, कि उस के किये वेदार्थ वेदों के महत्व को नहीं दर्शाते। और पांचवां दोष निरुक्त में यह है कि उस नें वेदों में इतिहास को स्वीकार किया है। इन सब दोषों के होने से तथा अनेक वेद-मन्त्रों के यास्क तथा महर्षि दयानन्द कृत अर्थों में भेद होने से यास्कीय निरुक्त सर्वांश में ग्राह्य नहीं हो सकता। सभापति ने भी इसी पक्ष में अपनी अनुमति प्रकट की।

तीसरे दिन

महात्मा मुन्शीराम जी (साहित्यपरिषत् के प्रधान) सभापति निश्चित हुवे। पं० घासीरामजी एम० ए० ने 'वर्णव्यवस्था और सोशलिज्म' पर एक उत्तम निबन्ध पढ़ा। उस में आपनें वर्त्तमान पाश्चात्य सभ्यता के दोष दर्शाते हुवे बताया कि इस समय की

दशा किसी न किसी ऐसे उपाय को चाहती है कि जिस से वह दूर हो । सोशलिज्म, अनार्किज्म आदि कई फ़िरकों का आपने वर्णन किया जो कि इन दोषों को दूर करने का दावा करते हैं, और अन्त में आपने दिखाया कि इन सम्प्रदायों के प्रचार होने से संसार में प्रेम, धर्म्म तथा आत्मीयता का नाश होजायगा। अतः वर्णव्यवस्था ही इन दोषों का अन्तिम उपाय है । सभापति ने भी फ़ैसला वर्णव्यवस्था के ही पक्ष में दिया। यह संक्षेप से "सरस्वती सम्मेलन" के तीनों दिनों का वृत्तान्त है ।

इन्द्र

मन्त्री–साहित्यपरिषद् ।

———

ओ३म् ।

सूचना ।

अयि श्रीमान्यवर्य्याः !

अर्प्यत इदं सरस्वतीसम्मेलनस्य द्वितीयं वार्षिकमितिवृत्तं भवच्चरणेषु । अत्र तावदिदं श्रीमन्तोऽवगच्छन्तु यत्प्रथमदिने पण्डितेनार्य्यमुनिना वेदान्तविषयमवलम्ब्य यो निबंधोऽश्राव्यत, तस्यातिजटिलत्वात् सद्यः श्रवणादनुपजातविशेषविवेचनैर्विद्वद्भिस्तत्र न स्थाने विशेषयत्नः कृत आसीत् । समालोचकै र्निबन्धमुद्दिश्यात्यल्पमुक्तमतः कारणात् तस्यातिस्वल्प एव वृत्तान्तोऽप्यत्र वर्णितः । यत्र-चान्यत्रापि निबन्धसमीक्षकेन किमप्यस्थान एवोक्तन्तदपि नात्र प्रवेशितं वृत्तान्ते; तेन वृथा ग्रन्थवृद्धे रनुपयोगित्त्वाच्चेति ।

निवेदयति

इन्द्रः,

साहित्यपरिषन्मन्त्री ।

ओ३म् ।

अथ सरस्वतीसम्मेलनस्य
द्वितीयं
वार्षिकमितिवृत्तम्

अथातीत एकस्मिन् संवत्सरे सरस्वतीसम्मेलनस्य द्वितीयं वार्षिकमधिवेशनमभूत् । अस्मिन्संवत्सरे सम्मेलनमिदन्न गुरुकुलमुख्याधिष्ठात्रा, अपि तु साहित्यपरिषदभिधया गुरुकुलस्थया परिषदाऽऽमन्त्रितम् । साहित्यपरिषदियमत्र गुरुकुले विद्वद्भिश्छात्रैश्च सम्भूय निबन्धपाठद्वारा साहित्याभ्यासपरिवर्धनाय स्थापितास्ति । इदमामन्त्रणपत्रञ्च विद्वद्भ्यः प्राहीयत ।

सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।

श्रीमन्महोदय !

विदितमेवात्रभवतो यदत्र गुरुकुले 'सरस्वतीसम्मेलना' ख्यमेकं विद्वत्सम्मेलनं, गुरुकुलवार्षिकोत्सवावसरे सञ्जायते । तत्र हि समवेता विद्वांसः शास्त्रचर्चया श्रोतॄणां विज्ञानलब्ध्यानन्दञ्जनयन्ति । अनेकदेशस्थाः संस्कृतज्ञा दर्शनपटवः शास्त्रचिन्ताचणाः, अन्ये च विविधविद्याविशारदाः पण्डिताः सकृपमुपेत्यात्रानन्दवारिधिमेव समुद्भावयन्ति । गुरुकुलनिरीक्षणम्पण्डितसङ्गमश्चेत्युभयमप्यत्र समागतैः श्रीमद्भिः सम्पादयितुं शक्यते । अतः सविनयम्मया निवेद्यते यदत्रोपेत्य भवानेतत्सरस्वतीसम्मेलनमाभूषयतु, इति प्रार्थयति

पण्डितैरनुग्राह्य इन्द्रः

साहित्यपरिषन्मन्त्री

श्रीमन्महोदय !

यह तो आप को प्रतीत ही होगा कि यहां पर गुरुकुल के वार्षिकोत्सव के समय 'सरस्वती सम्मेलन' नाम का एक विद्वानों का सम्मेलन हुवा करता है। वहां इकट्ठे होकर विद्वान् लोग उपस्थित लोगों का, अपने विज्ञानमय वचनों से बड़ा उपकार करते हैं। अनेक देशस्थ संस्कृत के विद्वान्, दर्शनों में प्रवीण, शास्त्र विचार में दक्ष और अन्य अनेक विद्याओं के पण्डित लोग उपस्थित होकर यहां विद्याक्षेत्र में आनन्द मचा देते हैं। यदि आप गुरुकुल देखना चाहें और साथ ही विद्वानों के सङ्गम की भी अभिलाषा करें, तो मेरी प्रार्थना है कि आप अवश्य इस अवसर पर गुरुकुल पधारें।

भवदीय
अनुग्रहेच्छु इन्द्र
मन्त्री-साहित्यपारिषद्

सरस्वतीसम्मेलन का समय विभाग

तिथि १९ मास फाल्गुण संवत् १९६५

प्रथम दिवस

समय, मध्याह्नोत्तर

१ से १–१५ तक साहित्य परिषद् के प्रधान की वक्तृता.

१–१५से १–३० तक सभापति (श्रीयुत स्वामी हरप्रसाद जी) की वक्तृता.

१-३०से २　　तक पं० अखिलानन्द शर्म्मा का पद्यपठन.
२　से २-४५ तक पं० आर्यमुनिजी का 'उपनिषदों में अद्वैतवाद' इस विषय पर (संस्कृत में) निबन्ध पठन.
२-४५से ४-१५ तक विवाद.
४-१५से ४-३५ तक निबन्धकर्ता का प्रत्युत्तर.
४-३५से ५　　तक सभापति की अन्तिम वक्तृता.

द्वितीय दिवस,

२० फाल्गुण

समय मध्याह्नोत्तर,

१　से १-१० तक सभापति (श्रीयुत स्वामी हरप्रसाद जी) की वक्तृता.
१-१०से १-३० तक पद्यपठन.
१-३०से २-१५ तक ब्र० जयचन्द्र का 'यास्कीया राद्धान्ता आर्यमतानुकूला न वा' इस विषय पर (संस्कृत में) निबन्ध पठन.
२-१५से ३-४५ तक विवाद.
३-४५से ४-१० तक निबन्ध कर्ता का प्रत्युत्तर.
४-१०से ४-४५ तक सभापति की वक्तृता.

तृतीय दिवस ।

२१ फाल्गुण

समय, प्रातःकाल ।

८　से ८-१० तक सभापति (साहित्यपरिषद्) के प्रधान की वक्तृता.

८–१०से ८–३० तक साहित्यपरिषद् का मंत्री, परिषद् की वार्षिक रिपोर्ट पढ़ कर सुनावेगा.

८–३०से ९ तक सभापति–साहित्यपरिषद् की वक्तृता.

समय मध्यान्होत्तर

१ से १–१५ तक सभापति की वक्तृता.

१–१५से २ तक श्री० बाबू घासीराम जी एम० ए० प्लीडर मेरठ का 'वर्णव्यवस्था और सोशलिज़म' (Socialism) विषय पर निबन्ध पठन.

२ से ३–३० तक विवाद.

३–३०से ४ तक निबन्धकर्त्ता का प्रत्युत्तर.

४ से ४–३० तक सभापति की वक्तृता.

४–३०से ४–४५ तक पद्य पठन.

४–४५से ५ तक साहित्यपरिषद् के प्रधान की अन्तिम वक्तृता.

तदनुसारमेव च फाल्गुनमासस्यैकोनविंशप्रविष्टायां पण्डिताः गुरुकुलयज्ञशालायां समगच्छन् । ततश्च समवेतेषु पण्डितेषु साहित्यपरिषत्प्रधानः श्रीमान् गुरुकुलमुख्याधिष्ठाता प्रास्ताविकं वाक्यजातम्भाषमाणः श्रीमन्तं स्वामिवरहरिप्रसादं साभापत्यार्थम्प्रार्थयत् । स्वामिवर्य्यश्च सकृपमासनं स्वीकुर्वाणः सभापतेराज्ञापालनपुरस्सरमेव विद्वद्भिरत्र विचारः कर्तव्य इति वर्णयन्नात्मने साभापत्यं वितीर्णवद्भ्यो विद्वद्भ्यो धन्यवादान् प्राहिणोत् ।

तदनु सभापतेराज्ञानुकूलङ्कविरत्नोऽखिलानन्द-
शर्म्मा स्वकृतमिदङ्काव्यमश्रावयत् .

सरस्वतीस्वागतम् ।

कर्त्ता यः प्रकृतिप्रधानमहसां सूर्येन्दुमुख्यात्मनां
भर्त्ता कारणकार्य्यभावविलसल्लोकस्थजीवात्मनाम् ।
हर्त्ता सर्गसमुत्थसर्वविभवव्यामिश्रविश्वात्मनां
भूयादद्य स एव विश्वनिलयः सौख्याय सर्वात्मनाम् ॥१॥

कारुण्यामृतवारिधेः करुणया यत्कार्यमुत्पद्यते-
लोकेऽलौकिकतां तदेव लभते निर्व्याजचारु स्वयम् ।
मत्वेत्थं हृदये स एव जगतामीशः समस्तै र्जनै
राध्येयो न परं किमप्यभिनवं वाच्यं मयास्मिन्पथि ॥२॥

धन्यः सोऽत्रभुवस्तले जनिभृतां मध्ये मया मन्यते
निष्प्रत्यूहमनंतलोकनिलयं यश्चेतसि स्थापयन् ।
वेदोदीरितकार्यसाधनविधौ सर्वस्वमप्यादरा-
दावेद्य स्वशरीरमात्रविभवो लोकोपकारे भवेत्[1] ॥३॥

कुत्रायं कलिकालकल्मषगलद्धर्म्मव्रतः पापवा-
न्कालः, कुत्र चराचरोपकरणस्वांतः स शांतो यतिः ।
कुत्रेदं मुनिमाननोचितगृहं चित्तापहारिस्थलं-
सर्वं तस्य महेश्वरस्य करुणालेशोदयात्संगतम् ॥४॥

सेव्यः सर्वजनैरतः स भगवान्निर्व्याजबंधुर्जग-
ज्जालोल्लासविमोहिताखिलजनोऽजन्माऽमरो निर्जरः ।

---

१ रत इति शेषः ।

सारो वेदगिरां गिरामविषयो योगानुरक्तैरपि
प्रारब्धोदयतः कथंचिदमले यो दृश्यतेमानसे ॥५॥

यस्य प्रेरणयाक्षि पश्यति न यत्संवीक्ष्यते चक्षुषा,
यत्संदेशवशान्मनोपि मनुते यादृच्छिकं प्राकृतम् ।
सर्वस्मिन्नपि यन्मनो न मनुते भावोदयात्संस्थितं
विश्वातीतगुणाभिराममलं तद्धाम वीक्ष्यं जनैः ॥६॥

शब्दावेद्यतया दिवो न विषयं निर्गन्धवत्वाद्भुवो
नैरस्यात्पयसोपि निर्गुणतया यन्नागतं रूपताम्
मूढास्तत्कथमेकदेशविषयं ब्रह्माभिधानं महो
मत्वा कल्पितभक्तिभावुकतया पश्यन्तिकष्टं महत् ॥७॥

वेदोक्तैः शुभकर्मभिर्मलमलं निःसार्य बुद्धिस्थितं
निक्षेपं दृढभक्तिभाववशतो विक्षिप्य दूरं बलात् ।
ज्ञानादावरणं निवार्य नितरामादर्शभूतेऽमले-
दृश्यं दर्पणदृश्यमानमुखवत्तद्ब्रह्म सर्वस्थितम् ॥८॥

निःश्वासा इव यस्य वेदविषयाः सर्वे निसर्गोत्थिता,
विश्वासाय चराचरस्य जगतो वाणीमयास्तन्वते ।
धर्माधर्मविवेचनासुचतुरं मूढं जनं सर्वथा
देवः सोद्य करोतु सर्वभुवने नानोपचारैः शिवम् ॥९॥

यस्यानुग्रहतःसमस्तमनुजैर्लोके सुखं लभ्यते
दुःखं चाशु ददाति विश्ववलये वेगेन यन्निग्रहः ।
शब्दातीतपथस्ततः सहृदयैः सर्वात्मना सर्वदा
सेव्यःपूर्णतया स एव भगवान्दीनार्तिनाशक्षमः ॥१०॥

---

१ गुरुकुलम् । २ अकारण बांधवः ।

यावानभ्युदयः प्रतीयत इदं विश्वं समेत्य स्थिरः
सर्वस्तस्य दयानिधेः करुणया नोचेदसावस्थिरः
संसारप्रसरः प्रतिक्षणचलच्चक्रभ्रमिभ्रामितः
कर्तुं कानिचिदुत्तमानि भवताच्छक्तः कथंकथ्यताम् ।११।

विश्वं विश्वपतिः स एव कुपथे बद्धानुरागं मदाद्
दृष्ट्वा तत्प्रशमाय वैदिकपथोद्धारैकचित्तं ऋषिम्
नानाकल्पितमार्गरोधनविधावेकांतशक्तं क्रमा
द्भुक्तानुग्रहदुष्टनिग्रहकृते तूर्णं समप्रेषयत् ॥१२॥

आनंदं प्रथयांबभूव भुवने यस्योदयः सन्मुने
रामोदः सुरभीचकार निखिलं लोकं यदीयो महान्
आशंसानिगमोदितस्य ववृधे कृत्स्नस्य यत्संभवा-
त्कालुष्यं प्रययौ निजोदरपरं मानुष्यकं सर्वशः ॥१३॥

नीतायद्भयतः पुराणपटुभिर्नामावशेषं कथा
विश्रब्धं विधवाजनैकनिलया नाशं ययौ सा व्यथा
धूर्त्तानामपि लोकवंचनमयी लीलाप्यशंकेश्लथा
किं वाच्यं कृपया समेति सकलं यस्याज्ञया सत्पथा ॥१४॥

शैवं नास्ति शिवं न वैष्णवमतं निःसारमेवास्त्यलं
शाक्तं भाक्तमतोपि यावनमतं मौहंमदं निर्मदम्
राधावल्लभमप्यतः परतरं रामानुजं निस्त्वपं
कौलं नेति यदीयडिंडिमरवो लोकं विधिज्ञं व्यधात् ॥१५॥

पठ्यंतां निगमाः समस्तमनुजैर्यज्ञाःसमारभ्यतां-
पूज्यंतां गुणिनोजनाः प्रतिदिनं धर्ममतिःस्थाप्यताम्

१ कर्माणीति शेषः । २ श्री १०८ मद्दयानन्द सरस्वती स्वामिनम्

दीयंतां विधिवद्धनानि कलहो निःसार्यतां भारता
दित्येवंबहु यस्य सर्वभुवने धर्मोपदेशोऽभवत् ॥१६॥

धृत्या चेतसि विद्ययाऽऽगमपथे सत्येन सन्मानसे
भक्त्यान्तःकरणे दमेन बलवत्कर्मेन्द्रियेषु स्वयम् ।
क्रोधस्यापगमेन सर्वविषये कार्योपसिद्धौ धिया
यस्याकारि तनौ किमन्यदधिकं धर्मेण पूर्णा रतिः ॥१७॥

वेदाभ्यासकृते जितेंन्द्रियतया लोके समस्तं सुखं
हित्वा येन वनेषु योगिपदवी यत्नैः समासादिता
तेनैवात्र जनेन भूमिवलये कीर्त्तिःस्थिराकल्पिता
नान्येनेति यदीयजीवनदशा संबोधयत्युत्तमाम् ॥१८॥

ताताज्ञावशतो व्रतं कलयता येनातिबाल्ये गृहे
लब्ध्वीं तंडुलभक्षणाय गिरिकां दृष्ट्वा गिरीशोपरि
स्वांते सर्वमिदं विचारितमभून्मिथ्यैव पूजादिकं
स्थालीपाकनयेन तात्विकधिया नानामतादुद्धतम् ॥१९॥

गात्राण्येव मलीमसानि भुवने शुध्यंति गङ्गांबुभि-
र्नोपापानि कदापि, सत्यकथनैरापूयते मानसम्
भूतात्मा तपसा विशुध्यति मतिर्ज्ञानेन तत्सेव्यतां
सर्वैस्तत्तादिति प्रकाशमवदद्यो योगिनामग्रणीः ॥२०॥

नार्योऽनार्यपथस्थिताःसमभवान्विश्वे यदारभ्य सा
लक्ष्मीर्दूरतरं जगाम सकला नूनं तदारभ्य तत्
सर्वैरार्यजनैः सहायकृपया शीघ्रं समारभ्यतां
कन्यानामपि शिक्षणं सुतवदित्येवं जगादात्र यः ॥२१॥

---

१ धैर्येण । २ शास्त्रमार्गे । ३ दशलक्षणवता । ४ जीवतचरितम् ।

"युग्मम्"

वित्तं येन परोपकारमनसा दत्तं निजं भूतले-
चित्तं विश्वपतेरुपासनविधौ भक्त्यानिशं योजितम्
सेवायै पुनरर्पितं सुमनसामारान्मनस्तात्विकं
लब्धं तेन सुदुर्लभं जनिफलं सर्वात्मना भावुकम् ॥२२॥

मत्वेत्थं हृदि योऽमलीकृतनिजस्वांतो यतीन्द्रः स्वकं
वेदानां प्रददौ धनं प्रसृतये विश्वेश्वरे मानसम्
देशोद्धारकृते शरीरममलं वेदोपदेशैरदा-
दस्वीकृत्य समस्तसौख्यनिवहं विश्वोपकारे रतः ॥२३॥

यस्याज्ञापरिपालनाय सकलैरार्योत्तमैराहितं
विश्वादर्शनिभं शुभं गुरुकुलं यस्मिन्ननेके जनाः
वेदानां पठनाय सद्गुणसमादानायपुत्रान्निजान्
प्रत्यब्दं विनियोज्यधार्मिकफलावाप्त्यैमनःकुर्वते ॥२४॥

शिल्पेऽनल्पपरिश्रमेण हिमवच्छैलादधो यापिता
यस्मिन्नद्यभगरिथेन गमनाद्गङ्गा नदीनांवरा
सेवायै नचवर्णिनामहरहो यांती शिलासंगता-
प्यात्मानं कृतकृत्यतामिव गतं सर्वात्मना मन्यते ॥२५॥

कौवेरीं दिशमेत्य यस्य सविधे तिष्ठन्नगः सर्वदा
नाहं सेवक इसत्वेक्ष्य हृदये यच्छोकमालंबते
तत्साक्ष्यं प्रतिदातुमस्य कुंदरान्नूनं वहिर्निर्गता
ज्वाला सर्वजनैः कदापि रजनीमध्ये समालोक्यते ॥२६॥

---

१ सुष्ठुमनोयेषांते विस्तंसो देवास्तेषाम् ॥

२ कुहरं गव्हरे विलइति कोष

वेदाभ्यासनिरंतरश्रमरतानालोक्य सद्वर्णिनो
यस्मिन्नादरतः समीरणयुता गंगाम्बुपूरोदरे
वारंवारमलं निमज्य रभसादाचामितप्रोद्गत-
स्वेदांभःपृषदुत्तमोत्तमतया संसेवते सर्वदा ॥२७॥

क्वाहं मंदगतिर्जडप्रकृतिमानेकः क्व चेमे पुन-
र्मत्तोऽनंतगुणप्रभाः सुमतयश्चिच्छक्तिमन्तो नवाः
संसारोपकृतेः कृते कृतधियः सद्वर्णिनामद्भुत-
व्राता इत्यवगम्य यत्र न रविःसेवां विधत्ते चिरम्॥२८॥

शक्तिर्यत्र रवेरपि प्रतिहता संजायते तत्र मे
चंडांशोर्गृहमेत्य भिक्षुकतया लब्धप्रकाशस्य का ।
वार्ता वार्तमतो न तत्र गमनं मत्वेतिचित्ते शशी-
यत्पार्श्वस्थितशैलकूटकटिकानाटस्थ्यमालंबते ॥२९॥

दूरं यास्यति वर्णिनां गुरुकुले विद्योदयात्सत्वरं
लोकस्थं पठतां तमोबहुगतं वृद्धिं यथावत्ततः
संरक्ष्या विषयेभ्यं इत्यतितरामात्मन्यवस्थाप्य सा-
भूमिर्यत्रबभूवकाननवती नीरोगतामागता ॥३०॥

यत्रांतःस्थितलोकमात्रसुषमे संजातमात्रे गतं
मिथ्यातीर्थनिषण्णधूर्तनिवहप्राधान्यमेकांततः
स्पष्टं नष्टमनिष्टकृष्टमखिलं भ्रष्टं खलानां बलं
दृष्टं वाममतानुयायिमनुजैरिष्टं समेतं बुधैः ॥३१॥

---

१ तानेवेतिशेषः । २ शीघ्रमस्तंयातीत्यर्थः
३ शिखरमध्यभागावरोधम् ॥
४ इमेवर्णिनइतिशेषः ।

नानादेशजनप्रदत्तवसुभिस्तत्प्रांतनामांकिताः
शाला यस्य समं ततोबहुविधाः संपादिताः शिल्पिभिः
संवासायमहोत्सवागतजनव्रातस्य पक्वेष्टक-
प्राकारोत्थितिवद्भिर्भाति नितरामानंद पूरप्रदाः ॥३२॥

दीर्घस्तंभनिविष्टशंकुनिहितप्रोद्वृत्तवस्त्रच्छदि-
प्रांतप्राणितवार्ङ्गियूपराचितप्राकाम्यदीपं नवम्
यस्मिन्नुत्तमकृत्यसिद्धिनिपुणैराभूषितं विद्यते
व्याख्यानस्य कृते विशालममलं पक्वेष्टकं चत्वरम् ॥३३॥

अग्रन्यस्तकडंकरादनहिताऽयोभांडकांडोन्नता-
भुग्नस्थंडिलवद्धवत्ससमजेनाहूतगोमंडलम्
नानासैन्धवखंडमंडितपुरोभागैकदेशं गृहं
यस्मिन्नद्य समीक्ष्य चित्तविषयं यातीव गोरक्षिणी ॥३४॥

सौधेयस्यमुनेर्मनोरथपथाऽऽपूर्त्त्यैसमायोजितो
वंशालंबितवस्त्रनिर्मितमहोंकारोध्वजःशोभते
विश्रान्तःस्थितभारतोदरगतद्वीपान्तराण्यप्यधः
कर्तुं वैदिकमार्गबोधनकृतं व्रातेरितप्रच्छदः ॥३५॥

यत्रान्तर्गतचत्वराग्रनिहितस्तंभोन्नते सर्वतो
दीक्षामंत्रसमाहृतेऽध्वरगृहे होमाय हस्तेहविः
कृत्वापीतपटावगुंठितभुजा स्तेवर्णिनः प्रसहं-
हस्ताहस्तिकया शिवंहुतवहं संधुक्षयंतिस्वयम् ॥३६॥

कक्षाभेदवशेन यत्र वटवः श्रेणीकृताः प्रसहं
दाक्षीपुत्रविनिर्मितेरनुगतां पश्यन्ति वृत्तिं नवाम् ।

---

१ चत्वरविशेषणमेतत् ॥ २ अजमेरनगरस्था सभा ।

पूर्वाचार्य्यपदंगतेन, सकलसत्कान्यकार्येण या
गंगादत्तमनीषिणा जनयता विद्यादयं निर्मिता ॥३७॥

भाष्यं यत्र पतंजलेरविकलं पाठ्यक्रमे वर्णिनां-
विन्यस्तं मुनिभाष्यभूषितपदं वेदांगमेकांततः ॥
सर्वं यास्ककणादजैमिनिकृतं शास्त्रं यथावत्कथं-
बाल्मीक्यादिकऋषिप्रकांडविहितं काव्यादिकं दृश्यते ३८

आश्चर्यं यदि किंचिदस्ति तदिदं विश्वप्रियेस्मिन्कुले-
साक्षाद्दीक्षितपक्षपातकरणं मन्त्रापिनन्मायितान्[1] ॥
मात्सर्यं च कथंचिदाप्य चपलामत्रस्थितिं दैवतः
काव्यानामनुमोदनं विषयिणां मानेन यत्सूरिषु ॥३९॥

शिल्पेऽनल्पपरिश्रमाः कतिपये संबोधकानां वराः
सर्वस्मिन्नपि चित्रकर्मविषये लब्धप्रतिष्ठाः परे ॥
नानावस्तुनिविष्टसारकणिकादानेतदन्येरताः-
यस्मिन्नात्मसमर्पणेन जगतामुद्धारमातन्वते ॥ ४० ॥

वृक्षारोहणमार्गधावननदीसंतारणादिक्रमै-
र्व्यायामोन्नतिकारि सर्वसुलभं यस्मिन्दरीदृश्यते ॥
कार्यं तत्र कथं महाऽऽमयकथा कुर्यात्पदं, साहसा-
त्सर्वस्मिन्नपिकारणे सति कृतिः संजायतेनान्यथा ॥४१॥

रक्षायै परिकल्पिताः कतिपये संरक्षकाः प्रत्यहं
यस्मिन्वर्णिगणैः समं करधृतस्थूलाक्षसद्वेगवः ॥
सर्वत्र क्रमशो व्रजंति नभवेद्दोषागमो वर्णिना-
मित्यात्मन्यवधार्य-संगतिगुणः किं किं न सूते फलम् ॥४२॥

---

१ दृश्यतइतिशेषः २ अभूदितिशेषः ।

लोकस्याखिलरामणीयकमलं यस्यैकदेशायन-
प्राधान्येन स यत्रभाति नितरां विद्यालयो मंजुलः ॥
संसारोद्भवसर्वमानवमनःसंविष्टनानामत-
प्रध्वंसाय समुत्कवर्णिनिवहः सर्वोपकारी महान् ॥४३॥

द्वारं यस्यमहेश्वरोदितगुणद्वारं मया मन्यते-
मध्यं विश्वविभूतिभूषितलसन्मध्यं न केनेक्षते ॥
प्रांतं वैदिकधर्मशर्मविलसत्प्रांतंभवत्वंजसा-
सर्वस्यापि शिवाय सोद्य भुवने श्रीविश्वविद्यालयः ॥४४॥

कार्यं यस्य समीक्षितुं महमुखे यूरोपदेशोद्भवा-
लोका जर्मनवासिनोऽतिगुणिनो वाष्पीययानक्रमैः ॥
धावंधावमुपागताः प्रतिपदं संवीक्ष्यसंतःपुर-
श्चित्ते विस्मयमानयंति परतोमुह्यंति च प्रायशः ॥४५॥

त्यक्त्वा लौकिकशर्म्मधर्म्मपरतामालंव्यभाग्योदया-
द्यस्मिन्मुख्यपदास्थितेन पुरतोदत्तं स्वकं जीवनम् ॥
वेदानामुदयाय तस्य न कथंभूयाद्धरित्रीतले-
विश्वातीतगुणोदयेन महिमा शार्दूलविक्रीडितैः ॥४६॥

तस्यैवांगतया तदंतरधुना विद्वज्जनैः कल्पिता-
साहित्यामृतवाहिनी नवसभा गंगेव रम्याऽपरा ।
विश्वस्याखिललोकमानसगतप्राचीनपापोन्नतिं-
दूरीकर्तुमनेकशः प्रयतते यालं महस्योदये ॥४७॥

पापैः पापकथोदरं मदवशाद्याकालिदासादिभिः-
पूर्वंपूर्वमकारि काव्यरचनं सन्मार्गविध्वंसनम् ।
तस्यास्मिञ्जगतीतलेविलयनंभूयात्कथंकेनवे-

स्येवं कल्पनमेव वर्णिषु यदुद्देश्यं मया मन्यते ॥४८॥

यस्याःप्रागधिवेशनंगतमहे सन्मानवैःकल्पितं-
विश्वेशस्यनिदेशतःशुभममभूच्छ्रीयसन्मंदिरे ॥
दूरादागतसज्जनव्रजदयासंमार्गेशमोंदया-
त्सिद्धिंकिंनसमेतिभूमिवलयेसत्कार्यमुत्पादितम् ॥४९॥

यस्मिन्नद्य निबंधकल्पनकृतेयुक्तोऽहमेवाभव-
न्द्वैतीयीकतया बभूव परतः श्रीकाव्यतीर्थाभिधः ॥
तार्तीयीकतयेन्द्रकल्पनमभूदेकांतमानंददं-
मुख्ये सर्वगुणोन्नते सति कुले किंनोभवेत्सुंदरम् ॥५०॥

यस्याध्यक्षपदं गतो विजयते धर्मोन्नतौ तत्परः-
श्रीमानुत्तमकीर्तिभाजनमलं मान्यः समस्तैर्जनैः ॥
धाम्नां धाम धृतेर्धनं धवलताधातुर्धरित्रीवलं-
गेहं शारदचंद्रिकाभयशसोभाग्यं धरित्रीभुवाम् ॥५१॥

मुंजोयेन भुवस्तलं श्रितवता नीचैः कृतः सत्वरं-
शीतांशुर्दिविसंस्थितोपि न गतःसाम्यं यदीयं क्षयात् ॥
राधाजानिरपिप्रकाममहितां लेभे न यत्कीर्तितां-
मध्येभारतमानवस्य संभवेत्पादादिवर्णांकितः ॥५२॥

येनाकारिगिरिस्थलीपरिसरेनिर्द्वंद्वमेतत्कुलं-
हित्वासर्वसुखानिवेदमहिमा कृष्टात्मना विस्तृतम् ॥
धर्मस्योन्नतिकारि दिव्यनगरीशोभापहारिस्फुर-
द्विज्ञानोदयकारिनिर्जरनदीसद्वारिसर्वोत्तमम् ॥५३॥

---

१ यस्याः परिषदउद्देश्यम्

२ इनेतिसर्वत्रयोज्यम्—३ प्रतिष्ठितइतिशेषः

द्वैतीयीकृतयाधिवेशनमदस्तस्याः सभायाः कृते-
साहित्यस्य समुन्नतेरधिकृतं सभ्यैस्तदीयैस्त्वम ॥
कीर्तिर्यास्यति, पूर्तिमाप्स्यति, परामेकान्ततः प्रक्रिया-
वेगादादिशति प्रबंधनिवहं सर्वत्रकार्य्येरतान् ॥५४॥

अस्मिन्नप्यधिवेशने विधिवशात्पूर्वं मयाऽभ्यर्थित-
श्रीमत्स्वामिहरिप्रसादघटितप्राधान्यवत्यद्भुता ॥
दूरादागतसभ्यमानवगणप्राशस्त्यसंबोधिका-
सर्वस्वागतकल्पनागुरुकुलस्थानां पुरस्तादियम् ॥५५॥

आगच्छंतु विभूषयंतु विधिवत्संवर्धयंतु क्रमा-
त्संगच्छंतु सनाथयंतु समितिं सभ्याः समस्ताः मम ।
हित्वाहृद्गतवैमनस्यविषयं मैत्रीं समारोहणैः
संपश्यंतु कृतार्थयंतु परतः सर्वानिहस्थाञ्जनान् ॥५६॥

भाग्येनोदयमाप या गुरुकुलेसाहित्यसंवर्द्धिनी-
गोष्ठीपंडितमंडलीकरुणया वर्षान्तभागोदये ॥
सभ्यानिच्छति शाश्वतानहरहोबुध्यैरसाद्यागतं-
मामेकं विनिवेद्यभावुकजनप्रीत्यै नवं मेचकम ॥५७॥

मत्तोग्रे सदसद्विवेचनपतेरद्वैतवादाश्रितं-
सर्वैराय्यमुनेर्निबंधपठनं भक्त्यासमाकर्ण्यताम् ।
भूयाद्येन मनोविकारशमनं बाह्येंद्रियाणामपि-
प्राधान्येन निमंत्रणं भवसुखे निर्वेदसंकल्पनम् ॥५८॥

यः सर्वस्य निरीक्षकोपि मनुजैर्नोशक्यते वीक्षितुं-
विश्वस्थैः कृतकर्मणामथ फलं यद्दत्तमालभ्यते ।

---

१ सद्दैव— २ कविरत्नमखिलानन्द शर्म्मणाम्

यत्कारुण्यवशादिदं समभवत्संमेलनं सद्गिरां-
तस्मैवेदविधानशक्तमहसे विश्वैककर्त्रे नमः ॥५९॥
बाणर्तुग्रहचंद्रसंकलनयालब्धक्रमे फाल्गुने-
मावद्विक्रमनामतः प्रचलिते वर्षे गलच्चंद्रिके ।
पक्षे कैरवबांधवैकविलसद्वारे दशम्यां तिथौ-
प्रातःकाव्यमिदं कविःकरुणयादेवस्यचक्रे नवम् ॥६०॥

कलुषितमतयो यदि प्रकामं-
परकृतिमीक्ष्य हसंति नात्र चित्रम् ।
सहृदयहृदयैर्यतः स्वचित्ते-
गुणवति सैव निवे[illegible] ॥१॥

१ मार्च सन् १९०६ ई०

आवित·काव्ये कविरत्ने सभापतेरादेशेन श्रीमाना-
र्य्यमुनिःस्वीयमेतन्निबन्धम्मध्यमस्वरेणापठत्ः—

॥ ओ३म् ॥

उपनिषत्सु मायावादोऽस्ति न वा ?

(१)—सर्वे सभ्याः सभाध्यक्षाश्च शृण्वन्तु, अधिगच्छन्तुचैतत्, यदप्याहुः, अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणमज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते, इत्येवमादिभिर्ब्रह्मोपादानकं जगत् । प्रतिपादितं चैतत् तस्मादेकस्यैव ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद्विचित्रपरिणाम उपपद्यते इत्येवमादिषु भगवच्छङ्कराचार्य्यैः ॥

(२)—नचात्र शुद्धस्य ब्रह्मण उपादानत्वं किं तर्हि अज्ञानमाश्रित्य ब्रह्मण उपादानत्वं इत्यभ्युपगन्तव्यम् । कुतः । ब्रह्मणो निराकारत्वेन परिणाम्युपादानत्वायोगात्, ज्ञानप्रागभावत्वेनाज्ञानस्याभावत्वान्नोपादानत्वमिति चेन्न, अज्ञानस्यास्मनूमते भावत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात् । यथाऽधर्मं चरतीत्यत्र धर्मविरुद्धं पापं चरतीत्यर्थोऽवगम्यते, एवमेव अज्ञानपदवाच्यं किमप्यभावविरोधि भावरूपं वस्तु गृह्यते, तच्चानिर्वचनीयं, निर्वचनानर्हत्वेन तस्य वस्तुनो अनिर्वचनीयतैवस्यादिति चेन्न, तस्य सदसद्विलक्षणत्वेन निर्वचनयित्वात् बाध्यत्वात्तस्य सद्विलक्षणत्वं प्रतीयमानत्वाच्च तस्यासद्विलक्षणत्वं तदेवं भावाभावविलक्षणं वस्तु अज्ञानपदवाच्यं, तदेव श्रुतिस्मृत्योरविद्या माया प्रकृतिरिति च नामान्तरैरपि व्यवह्रियते सेयं भावरूपा माया ब्रह्माश्रित्य जगज्जनयति, इत्यभिप्रायेण ब्रह्म कारणमुच्यत इत्युक्तम् ॥

(३)—यद्यपि भावाभावविलक्षणत्वेन मायाया भावत्वं न संगच्छते, तथापि विधिमुखप्रतीतिविषयत्वं भावत्वमित्यभिप्रायेण मायाया भावत्वं, न पारमार्थिकसत्ताकत्वाभिप्रायेण । अतो मायाया

मावत्वे न कोपि दोषः, सति चैवं इदमेव लक्षणं निष्पन्नं भवति अनादिभावत्वे सति सान्तत्वं मायात्वं, प्रागभावस्यानादिसान्तत्वेपि नैतल्लक्षणं तत्रातिव्याप्तं भवति, तस्य भावत्वाभावात्, एवमेव मायायाः मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वेन, सादित्वेपि अनन्तत्वभावान्न प्रध्वंसेऽतिव्याप्तं । मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वेन सादित्वे सति घट प्रागभावाऽभावरूपे घटे तल्लक्षणमतिव्याप्तमिति चेन्न मिथ्या प्रत्यय निमित्तत्वेपि मायायाः स्वप्नादिबीजवदनुगतत्वेन अनादित्वाभ्युपगम्य मानत्वात् । न दोषः । कुतः घटप्रागभावाभावरूपस्य घटस्य सान्तत्वे सति भावत्वेऽपि नानादित्वं, सत्कार्य्यवादपक्षमाश्रित्य तस्याना-दित्वमिति चेन्न तस्य सान्तत्वाभावात्, अनया दिशा माया लक्षण-स्यातिव्याप्त्यादिदोषशून्यत्वमुपपन्नम् ॥

(४)—अविद्योपादानकत्वादेव निरवधिकातिशया संख्येय कल्याणगुणाकरे चिन्मात्रैकवपुषि मिथ्याभूतं चेदं चराचरं जगत्, मिथ्यात्वं च यथावस्थितवस्तुज्ञाननिवर्त्यत्वं यथा शुक्ताविदं रजतं तच्चाऽगन्तुकदोषजन्यत्वेन प्रातिभासिकं, प्रमाणानि चात्र वक्ष्य माणान्युपलभ्यन्ते " नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् " " इन्द्रो-मायाभिः पुरुरूप ईयते" "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तुमहेश्वरं" "तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः " " भूयश्चान्ते विश्वमाया नि-वृत्तिः " " न तत्र रथा न रथयोगा अथ रथान् रथ योगान् पथः सृजते " " अनृते नहि प्रत्यूढा " इत्येवमादिषु वेदोपनिषत्सु सु-प्रसिद्धमेव सुविवेचकानां मिथ्यात्वम् ॥

(५)—अनधिगतौपनिषदतत्वतात्पर्य्याणां मायामोहेन वि-मूढ़ मनसां प्रातिभासिकेऽनिर्वचनीयख्यातिवादिनां मतमिदं, न

समञ्जसम्, अनिर्वचनीयानिरुक्तेः । किञ्च तावदनिर्वचनीयत्वं नाम ? न तावत् सदसद्भ्यां विलक्षणत्वम् अनिर्वचनीयत्वम् इति वक्तुं शक्यते भावत्वेन तस्य सद्विलक्षणत्वाभावात्, भावत्वमपि तस्यानिर्वचनीयमिति चेन्न, एवंविधभावस्य भवन्मते अभावेष्वपि सत्वात्, असद्विलक्षणत्वं न संगच्छते, तेष्वपि अविद्याकल्पितत्वेन भावत्वस्य भवतैवोपपादितत्वात्, अस्तीति प्रतीतिविषयत्वं भावत्वमिति चेन्न, घटस्याभावोस्तीति अस्तिप्रतीतिविषयत्वेन घटाभावस्यापि भावत्व प्रसङ्गात, एवंअविद्यायां सदसद्विलक्षणत्व न्न घटते ॥

(६)--अन्यच्च प्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेण अभावः, इति स्वाचार्य्यवचोव्याघातात् अभाव विलक्षणत्वं कथं ? अनयादिशा अविद्यालक्षणस्य भावाभावत्वेन अनादिसान्तत्वेऽपि प्रागभावेऽतिव्याप्तिः, अपि च मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वेन, अज्ञानस्य सादित्वं ज्ञानबाध्यत्वेन सान्तत्वमिति कृत्वा सामयिकाऽभावे तल्लक्षणमतिव्याप्तम्, एवं च पूर्वं तावत् अज्ञानस्य लक्षणमेव न स्थिरीभवति तस्य भावत्वेनोपादानत्वमित्यस्य तु कैव कथा ॥

(७)—यच्च प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनाय शुक्तिशकलेऽनिर्वचनीयं रजतमुत्पद्यत इति स्वीकृतम् अनिर्वचनीयख्याति वादिना, तच्च युक्तिशतेनापि प्रतिपादयितुं न शक्यते, अज्ञानस्योपादानत्वाभावात् । उपादानत्वं हि नाम आत्मनि कार्यजनिहेतुत्वं तच्च भावेष्वेव घटते नाभावेषु । अज्ञानस्य च प्रतियोगिसापेक्षत्वेनअहमज्ञइतिवतज्ञानप्रागभावत्वेनप्रतीयमानत्वात् अभावत्वं, सति च अभावत्वे कथं तस्योपादानत्वम् ॥

(८)–किञ्च अनिर्वचनीयवादिनां मते यथा शुक्त्यादौ अनिर्वचनीयं रजतं भ्रान्तिभूतम्, एवमेव सर्वं चेदं चराचरं जगद्

भ्रान्तिभूतम्, तस्य दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् । यथा च शुक्ति-रजतादीनां दृष्टनष्टस्वरूपत्वम्, एवमेव व्यावहारिकस्यापि प्रपञ्चस्य दृष्टनष्टस्वरूपत्वमेव, दृष्टनष्टस्वरूपत्वं च प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं, यदुपाधौ यदुपपन्नं तच्च कालत्रयेपि तत्र नास्तीत्यर्थः, परस्परविरुद्धं चैतदनिर्वचनीय-वादिनां मतं व्यावहारिकप्रातिभासिकसत्ताभेदाभ्युपगमात्, तैश्च घटपटादीनां व्यावहारिकी सत्ताभ्युपगम्यते, शुक्तिरजतादीनां च प्राति भासिकी, तन्मते नेदं रजतमित्यत्र व्यावहारिकत्वं निषिध्यते, न प्रातिभासिकत्वं तस्य भावत्वेन तत्राभ्युपगम्यमानत्वात्, इत्यभ्युपगमेन, इदं सिध्यति यत्स्वसमयेपि सर्वस्य दृष्टनष्टस्वरूपत्वं तैर्नाभ्युपेयते । किं तर्हि प्रातिभासिकस्यैव दृष्टनष्टस्वरूपत्वं व्यावहारिकस्य च प्राग् ब्रह्मबोधात् स्थायित्वं, अतः प्रपञ्चस्य न दृष्ट नष्टस्वरूपत्वं संगच्छते ॥

(९)—अथोच्येत, अनिर्वचनीयतत्वानभिज्ञजनबोधार्थं सत्तात्रयं, वस्तुतः सत्ताद्वयमेव सम्मतम् इतिचेन्न, कारण भेदाभ्युपगमेन कार्य्यभेदस्यावर्जनीयत्वेनाभ्युपगमात्, तदित्थं आगन्तुकदोषजन्यत्वं प्रातिभासिकत्वम्, अविद्यामात्रदोषजन्यत्वं च व्यावहारिकत्वमित्युभयोर्भेदोऽभ्युपगतः पुनः कुतस्तदैक्यं ? अतएव नेह नानास्ति किञ्चन इत्येवमादिभिः, जगतः पारमार्थिकसत्ताकत्वं निषिध्यते, न व्यावहारिकसत्ताकत्वं सति चैवं सिद्धसाधनमेव, वेदवादिभिरपि जगतोऽनित्यत्वमभ्युपेयते अतो न नित्यत्वम् ॥

(१०)—अपि च शुक्तिशकलादौ नानिर्वचनीयं रजतमुत्पद्यते, किन्तु शुक्तेरेवान्यथा भानं भवति । अन्यथाख्याति

मतेन भवताप्येवमेवाभ्युपगन्तव्यं, प्रातिभासिकस्थले अन्यथाख्यातेः सम्भवात्, अन्यथाख्यातिस्थले केवलं ज्ञानमेवान्यथा जातं न तत्र वस्त्वन्तरमुत्पन्नं, अनिर्वचनीयवादे ज्ञानं तद्वस्तु चाभय नूतनमुत्पद्यते, तन्न समञ्जसम्। एवं विभ्रमोत्पत्ति स्वीकारे हि-अनित्येषु नित्यभ्रमे भवतापि नित्यस्य जन्माभ्युपगन्तव्यम् निष्टं चैतत् आत्मनित्यत्ववादिनस्तव । अतोऽन्यथा ख्यातिरेव स्वीकार्य्या । "न च वाच्यं नान्यथाख्यातिः स्ववचो व्याघातात्" इत्यत्रान्यथाख्यातेः खण्डनमिति, तस्यानिर्वचनीयवाद्यभिमतान्यथा-ख्यातिवाद विषयत्वेन, अनिर्वचनीयख्यातिखण्डनपरत्वात्, तदित्थं अनिर्वचनीयवादिभिरपि 'अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या" एवं यत्र अनित्यशरीरे नित्यबुद्धिस्तत्रा-न्यथाख्यातिरेव स्वीक्रियते, अन्यत्र शुक्तिरजतस्थले अनिर्वचनी-यख्यातिरेवाभिमता, अनया रीत्या अनिर्वचनीयवादिनः स्ववचो व्याघातः, इत्यभिप्रायेण महर्षिकारिकेनान्यथाख्यातिः खण्डिता, नच वस्तुतः अन्यथाख्यातिखण्डने महर्षेस्तात्पर्यं, यदि चान्यथाख्यातेरेवात्र खण्डनं स्यात् तदा स्ववचोव्याघात इति नोक्तं स्यात्, किं तर्हि नान्यथाख्यातिरसद्भावादित्युक्तं स्यात्, अतः किं ज्ञायते अनिर्व-नीयवादिनां प्रत्येवायं दोषः ॥

(११) अन्यच्च "नान्यथाख्यातिः स्ववचो व्याघातात्" सां० द० ५।५६ इत्यतः प्राक् "नानिर्वचनीयस्य तदभावादिति" सूत्रं वर्तते अस्यायमर्थः शुक्तिरजते अनिर्वचनीयस्य सदसद्भ्यां विलक्षणस्य सद्भावो नास्ति कुतः तदभावात्, एवंविधवस्तुनः अनिर्वचनीयत्वे-नानिर्वचनीयत्वेव । अतः इत्यभिप्रायेण सूत्रकृतानिर्वचनीयवादिनं प्रत्येव स्ववचो व्याघात इत्युपालम्भो युज्यते नान्यं प्रति ॥

१२—यच्च मायावादिभिः स्वकपोलकल्पनया अन्यथाख्या-तेरन्यथाप्रकारं निरूप्य खण्डनं कृतं तच्च तेषां मिथ्यावादाभिप्राया-नुरूपमेव, नच तात्त्विकं, एभिरुक्तं यदा शुक्ति शकलेन सह नेत्रेन्द्रि-यस्य सम्बन्धो भवति तदा सादृश्यादिदोषवशात् पण्यस्थस्यैव रजतस्य तत्र भानं, सति चैवं मध्यदेशवर्तिनां पदार्थानां कुतो न भानं भवति? इत्यतो नान्यथाख्यातिर्ग्राह्या, अत्रोच्यते नैवं विधान्यथाख्या-तिः कस्यापि दर्शनस्याभिमता, किं तर्हि शुक्तौ नेत्रेन्द्रियसम्बन्धवतः शुक्तिसादृश्येन संस्कारगोचरस्य रजतस्यान्यथाभानमन्यथाख्यातिः, अतो मध्यदेशवर्तिपदार्थभानस्य दोषगन्धोऽप्यत्र नास्ति ॥

१३—श्रीमदाचार्यशङ्करभगवतो वचनव्याघातादपि जगतोऽ-निर्वचनीयत्वं न सिध्यति, तदित्थं "पारमार्थिकस्तु नायं सन्ध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवत्" इत्येतावता प्रतिपाद्यते, ब्र० सू० ३।२।४ अत्र च भाष्यकृता कण्ठत एव वियदादिप्रपञ्चस्य स्वाप्नपदार्थानाञ्च वैलक्षण्यं प्रतिपादितं कुतः पुनः शुक्तिरजतदृष्टान्तेन प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वम्, अन्यच्च भगवता भाष्यकृताऽत्रेदमप्युक्तं" प्राक् च ब्रह्मदर्शनाद् वियदादि प्रपञ्चो व्यवस्थित रूपो भवति, सन्ध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं बाध्यत" इत्यतो वैशेषिकमिदम्,

अतः स्पष्टं भवति मायावादिनां मये, व्यावहारिकप्रातिभासिक-योर्महद् वैलक्षण्यम् । सति चैवं विधवैलक्षण्ये यदा कश्चित् संकुचि-तावकाशवत्या गिरिगुहाया अभ्यन्तरे स्वप्ने कञ्चिद्धस्तिनं पश्यति कथं च स हस्ती तस्यां गुहायामवकाशं लभते तस्योत्तानशायिशयनयो-ग्यत्वात्, स्वाप्नगुहायाश्च तत्र भौतिकाकाराभिमतत्वेनाभावात् नूतन एव हस्ती अनिर्वचनीयवाद्संमतः समुत्पद्यते तस्य चोक्त रीत्या तत्रा

वकाश एव नास्ति, अतः अन्यथाख्यातिवादिमतेन, अन्यथा ज्ञान-मेव मन्तव्यं नचात्र हस्त्यादिपदार्थानामुत्पत्तिविनाशाभ्यां गौरवं कल्पनीयम् ॥

१४—सत्ख्यातिवादिरामानुजाचार्य्याणां मते शुक्तिशकले रजतस्यावयवाः सन्ति त एव दोषवशात्संभूय प्रतीयन्ते अतो न शुक्तिरजतदृष्टान्तेन प्रपञ्चमिथ्यात्वासिद्धिः, यद्यपि मिथ्यात्व-खण्डन एतेषां वैदिकमेवमतं तथापि शुक्तौ वस्तुतो रजतावयवाः न सन्ति अस्मिन्नंशे सत्ख्यातिवादिनां मतमसमंजसं, कुतः, यदि शुक्तिशकले रजतावयवाः स्युस्तदा स्थाणावापि पुरुषावयवाः भवेयुस्तेच म्रियमा-णस्यैव पुंसो नच जीवतः सति चैवं स्थाण्वादौ पूतिभावः प्रसज्येत अतो न केनापि बुद्धावारोपायितुं शक्यन्त एवं विधावयवाः, इत्यतः सत्ख्यातिवादिनोमतमसमंजसम् ।

(१५)—असत्ख्यातिवादिनो माध्यमिकस्य मते असत एव भानं तत्रेदं विवेचनीयं किमबाध्यविलक्षणस्यासतोभानं किंवा नि-रुपाख्यस्य ? नाद्योऽनिर्वचनीयवादप्रसक्तेः । अवाध्य विलक्षणत्वे सति प्रतीयमानत्वम्, अनिर्वचनीयत्वमेव, यदि च निरुपाख्यत्वं, असत्व-मभिप्रेतं तदा न तत्प्रतीयेत, तस्य निरुपाख्यत्वेन प्रतीत्यनर्हत्वात् ॥

(१६)—नाप्यात्मख्यातिवादिनो बौद्धस्य मतं तर्कं सहते, कु-तस्तन्मते वाह्यार्थापलापाः, अतो बहिर्देशे शुक्तिरेव नास्ति । यत्ररूप्यं प्रतीयेत पुनश्चकुतस्तत्रान्तररजतस्य सम्भवः वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत, इत्यत्र स्वप्नजागरितयोर्वैधर्म्यं प्रदर्श्य वाह्यार्थापलापिनो विस्तरेण खण्डनं, नहि जाग्रत् प्रत्ययास्वप्नादिवन् :मिथ्याभूताः, भवितुमर्हन्ति कुतः वाधावाधाभ्यां तयोरत्यन्त वैलक्षण्यात् । स्मृतेरन्यथाज्ञानमेव

स्वप्नदर्शनं जाग्रत्प्रत्ययास्तु यथावस्थितवस्तुत्वेनोपलभ्यन्ते । एवं प्रत्यक्षमनयोरन्तरमतः स्वप्ननिदर्शनेन, न बाह्यार्थापलापः कर्तुं शक्यते, अनेनानिर्वचनीयवादोऽपि खण्डितो वेदितव्यः ॥

(१७)—अख्यातिवादिनः प्रभाकरस्य मते शुक्तिरजतस्थले ज्ञानद्वयं । रूप्यज्ञानं रूपविषये यथार्थं इदमितिज्ञानं च शुक्त्यवगाहितया यथार्थम् । अतो न भ्रमज्ञानमपितु नेत्रेन्द्रियसम्बन्धेसति प्रमुष्टतत्ताकस्मृतितयाज्ञानाग्रह एव, नानिर्वचनीयं नूतनं रजतमुत्पद्यते। नापि तत्र सत्ख्यातिवादिनामिव रजतावयवाः मन्तव्याः किन्तु ज्ञानद्वयं तच्च सत्यमेव अतो न मिथ्यावादिनां मिथ्यामतसाधनाय शुक्तिरूप्यदृष्टान्तोऽलम् ॥

(१८)—एवं ख्यातिवादविवेचनया 'न तत्ररथाः न रथयोगा' इत्येवमादिभि र्न मायावादः सिध्यति, जागरितसंस्कारगोचरणामेव पदार्थानां निद्रादिदोषेण स्वप्नेऽन्यथाभानस्य युक्तिसिद्धत्वात्। यत्तु 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' मायिनन्तु महेश्वरम्, अनेन मायावादस्सिध्यति, इत्युक्तं तदसत् कुतःमायाशब्दस्यात्र प्रकृत्यर्थाभिधायित्वात् । नह्यत्रमायाशब्दोमिथ्यार्थभूतां मायां प्रतिपादयति किं तर्हि प्रकृतिंप्रतिपादयति अतोनात्र मायावादस्यावकाशः "तस्मिंश्चान्योमाययासन्निरुद्धः" इत्यत्रापि प्रकृत्यैव जीवस्य निरोधाख्यं बन्धनं युक्तम् ॥

(१९)—यच्च"इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते"अनेन वेदमन्त्रेण ब्रह्मणोमायया जीवरूपत्वं निरूपितं तच्च मायावादिनां मिथ्यार्थत्वं स्फुटयति कुतोब्रह्मणः, जीवरूपेण बहुभवनं नोपपद्यते "सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्" इत्यादिभिस्तस्याः खण्डरूपत्वात्, उक्तमन्त्रे, न पारमार्थिकं बहुभवनं किं तर्हि मिथ्यैव प्रतीयत इतिचेन्न, ब्रह्मणोमायाऽ-

पत्तेः । अपि च तमसः प्रकाशाभावत्वेन तिरोधानं स्वरूपनाश एव तच्च नित्यत्वादेव ब्रह्मणि नोपपद्यते ॥

(२१)—यच्च ज्ञानविरोधित्वेनाज्ञानस्य भावत्वमभ्युपगतं तदसत् विरोधानिरुक्तेः किं नाम विरोधित्वं घातकत्वं ? उत सहानवस्थानत्वं ? तादात्म्य राहित्यं वा ? आद्ये नित्यज्ञानाभ्युपगमविरोधो ब्रह्मज्ञानस्य नाश्यत्वेनानभ्युपगमात् । नापि सहानवस्थानत्वं तस्य ज्ञानाऽज्ञानाश्रयत्वेनाभ्युपगमात्, तादात्म्यराहित्ये वादिकाभ्युपगमेन सिद्धसाधनं एवमज्ञानस्य ज्ञानविरोधित्वं न सिध्यति ॥

(२२)—यत्तु "नासदासीन्नो सदासीदिति" वेदवाक्येनानिर्वचनीयं समस्तं तदसत् कुतः नामरूपं व्याकृतं हि वस्तु लोके सच्छब्दाहं भवति तच्च नासीदित्याभिप्रायेण सन्निषेधः । प्रतिपादितं चैतत्, " असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् " इति सूत्रे, अतो नासदासीदिति नानिर्वचनीयं साधयति, तथाहि " स्वधयातदेकम् " इति वाक्यशेषे स्वधा शब्देन प्रकृतेर्ग्रहणं दृश्यते अतो न ब्रह्मोपादानकं जगत्, किन्तु मायावादनिरसने प्रबलप्रमाणं चेदमपि द्रष्टव्यं यदनादिषट्केन वैषम्यनैर्घृण्ये परिहरन्ति मायावादिनः सति च जीवादीनामनादित्वे मायावादानुपपत्तिः कुतो जीवः सिध्यति हि माया सचानादि सिद्धः, अतः कृतं मायया ॥

(२३)—अन्यच्च अनादिषट्केन सह विरोधादेकमेवाद्वितीयमित्यादिभिर्ब्रह्मणो वस्त्वन्तरभेदशून्यत्वेन, एकत्वं नोपपद्यते, कुतः, अनादित्वेन चिदचिदीश्वराणां मायामात्रत्वानुपपत्तेः, चिद्वस्तुनो जीवस्य स्वरूपतोऽनादित्वेन मायिकत्वाऽभावः, वर्णितञ्चैतत्, " अनेनजीवेन " इत्यादिना अचिद्वस्तुनश्च नैसर्गिकत्वेन अमायि-

कत्वमीश्वरस्य च " सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयदिति" वैदिकेन वाक्येनमनादित्वं सिद्धम्, एवमेवैतेषां स्वरूपभूतभेदोऽप्यनादिः पञ्चमोऽविद्याब्रह्मणोः सम्बन्ध इत्येवमेतेषामनादित्वे सति कथं मायिकत्वं कुतश्चैकत्वसिद्धिः । यदि च स्वप्नदृशि स्वरूपाऽनुपमर्द्देन रथयोगादिवन्मायामात्रत्वं, न तदाऽनादित्वमित्युभयतः पाशरज्वा आकृष्यमाणोयं मायावादः प्रतिभाति, अतो मायावादिमतमसमञ्जसं, विस्तरेण खण्डितं चैतेषां जीवब्रह्मणोरनन्यत्वं, " न कर्माऽविभागादिति चेन्नानादित्वादित्येवमादिभिर्भगवता व्यासेनातो नाधिकप्रपञ्चे प्रपत्यते ॥

(२४)—सभ्यगण ! समाहितमनस्कतयेनं श्रोतव्यं-यद्वाचस्पतिमिश्रादीनां स्वगोष्ठीष्वयमुद्घोषः " एष दुर्वारोदोषः न पुनरस्माकं मायावादिनां " " आत्मनिचैवं विचित्राश्च हि " "अनेन स्फुटितो मायावादः स्वप्नदृगात्मा हि मनसैव स्वरूपानुपमर्द्देन रथादीन् सृजतीति " अत्रेदं विवेचनीयं यच्चमहामायंब्रह्म स्वप्नादिवत् सर्वं सृजति, तत् तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयमिदं वस्तु पश्यति न वा ? न पश्यति चेद्ब्रह्मणोऽज्ञत्वं, पश्यति चेत् रज्जुसर्पवन्मिथ्यात्व दर्शिनः कथं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वं, स्वात्मन्यध्यस्त रूपां मायां तन्न पश्यति इति चेत् तां कः पश्यति इति वाच्यं, जीव इति चेन्न तस्य मायिकत्वेन स्वयमध्यस्त रूपत्वात, किंचाविद्यामन्तरा अध्यासोऽपि न भवति केयमविद्या ब्रह्मणि ? मायैवेति चेन्न मायाऽविद्ययोरनर्थान्तरत्वे भवद्ब्रह्मणो महामायामयमित्युच्यमाने अविद्यामयमित्युक्तं स्यात्, सभ्यगण ! सुविवेचकैरत्र विवेचनीयम्, एष दुर्वारो दोषः केषां, मायावादिनां ? उतवैदिकानाम् ? किं बहुना यथा

यथायं मायावादः परीक्ष्यते तथा तथा कदलीस्तम्भवदन्तःसारतां निस्सारयति ।

(२५)—यत्तु श्रीमच्छङ्कराचार्य्यैः, एकदेशिसंयोगेन, आकाशस्य विभुत्वेन दिग्विभागेन चाणुषु, अनित्यत्वापादानं कृतं तच्च "अन्तर्बहिश्च कार्य्य द्रव्यस्य कारणान्तर वचनादकार्य्ये तद्भावः" इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयान्हिके भगवता गौतमेन पूर्वमेव परिहृतम् अतो नात्र प्रपञ्च्यते ॥

(२६)—" परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः " अत्र भगवतः शङ्करस्येदमेव वचः परीक्ष्यते यत् " उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि " अस्य सूत्रस्य भाष्ये 'तस्मादेकस्यापि' ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवत् विचित्रपरिणामः उपपद्यते, इत्युक्तम्, अत्र पृच्छते ब्रह्मणः परिणमः कथमभ्युपगम्यते ? तस्य निरवयवत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात् परिणामश्च पूर्वावस्थानाशेन, अवस्थान्तरं तच्च ब्रह्माणि युक्तिशतेनापि कल्पयतुं न शक्यं, ब्रह्मणोऽखण्डैकरसत्वात्, उपलब्धि विनाशाभ्यां कार्य्यस्य मिथ्यात्वेन विवर्त्तुपादानत्वमुपपद्यते, इति चेन्न उपलब्धिविनाशौ हि न मिथ्यात्वं साधयतः, किं तर्हि अनित्यत्वं यद्देशकालसम्बन्धितया यद्वस्तु यत्र प्रतीतं तद्देश कालसम्बन्धितया तस्य तत्रासत्वं मिथ्यात्व साधयति, एतच्च व्यावहारिकसत्तां स्वीकुर्वाणेन, मिथ्यावादिनाप्यभ्युपगतम्, अतएव भूभूधरादीनां न विवर्त्तुपादानत्वं, तेषां व्यावहारिकत्वात् नापि अज्ञानापरपर्य्यायाया मायाया उपादानत्वं प्रमाण सिद्धं "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् " अनेन मायाया उपादानत्वं सिध्यतीति चेन्न अत्र प्रकरणतः मायाशब्दस्य प्रकृत्यर्थाभिधायित्वात् नाज्ञानोपा-

दानत्वं जगतः, "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" इत्येव मादिभिः अभिन्ननिमित्तोपादानतया अज्ञानोपादानकमिति चेन्न अत्रापि लूता कीटशरीरवत्तच्छरीर भूतायाः प्रकृतेरेवोपादानत्वं न मायायाः, किञ्चाक्षर शब्दान्यथानुपपत्यापि नह्यत्र माया ग्राह्या मायाया भवन्नये ज्ञानवाध्यत्वात्, "अक्षरात्परतः परः" अत्र चाक्षरभूतायाः प्रकृतेर्नित्यत्वेन निरूपणम् अतो नाज्ञानाख्य मायाऽन्या कृतयो रैक्यं प्रमाण सिद्धम् ॥

(२७)—अपि च वेदविरोधादपि मायाऽविद्याप्रकृतिरिति पर्य्याया इत्येवमेकार्थाभिधायिनां मायावादीनां ममसमञ्जसं तथाहि "**अविद्या कल्पिते नामरूपे तत्वान्य त्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार प्रपञ्च बीजभूते सर्वज्ञ स्येश्वरस्य मायाशक्ति प्रकृतिरिति च श्रुति स्मृत्यो रभिलप्यते, इति मायावादः**" वेदेन क्वापि मायायाः, अविद्यार्थाभिधायित्वं "मायां वरुणस्य प्रवोचं" इति पञ्चमण्डलस्य पञ्चाशीतितमे सूक्ते माया शब्दः प्रज्ञार्थाभिधायी, दशमस्य अष्टाशीति तमे माता मिति यज्ञीयानां प्रज्ञायां प्रयोगः—

युवं शक्रातायाविना समीची निरमंथतं-
विमदेव यदीलिता नासत्या निरमंथतम् ॥

अत्र दशमस्य चतुर्विंशतितमे निपुणे प्रयोगः, एवं शतशोमंत्राः सन्ति येषु मायाशब्द प्रयोगाः परन्तु मायाशब्दस्य मिथ्यार्थाभिधायित्वं उतोपादानत्वभिधायित्वं केनापि दर्शयितुं न शक्यते, अतो मायावादस्यावैदिकत्वम् ॥

२८—यत्तु अनृतार्थाभिधायित्वेन औपनिषदत्वं समर्थितं मायावादस्य तदपि नोपपद्यते" सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं

ब्रह्मलोकं न निन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" अत्रानृत शब्दस्यापन्हवार्थाभिधायित्वात्" तेषामसौ विरजोब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न मायाचेति" अत्रापि अनृतस्यापन्हवार्थाभिधायित्वं" येषां तपो ब्रह्मचर्य्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्" इत्येवं सत्यस्योपक्रमे निरूपणात् । अत्र माया शब्दस्य मिथ्यार्थाभिधायित्वमिति चेन्नात्रापि जिह्मादि सानिध्यात् कपटार्थाभिधायित्वं न मिथ्यार्थाभिधायित्वम् ॥

२९—यच्च" अनृतेन हि प्रत्यूढाः" अत्र वैदिकं कर्म-अनृतं तद्विरोधि अवैदिकं कर्मात्र ग्राह्यं" ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके" इत्येवमादिषु ऋतशब्दस्य वैदिक कर्माभिधायित्वं इत्येवं समर्थितं भगवता रामानुजाचार्य्येण तदप्युपपद्यते ॥

३०—एवं मीमांस्यमाने मायाया मिथ्यार्थाभिधायित्वेन, जगत उपादानत्वं क्वापि नोपलभ्यते भ्रान्तिप्रजल्पितं चैतत्, औपनिषद पुरुष प्रेमानास्पदानाम्, आपात प्रतीत कर्म ब्रह्ममीमांसा तात्पर्य्यतयान्यथार्थावगाहिनां, स्वरूपत एवानवधिकातिशया संख्येय कल्याण गुणाकरोर्मिष्वननुभूतानन्दानां भूभूधरादि चित्र विचित्र कार्य्या कार्य्य करण कारणानां चिदचिदीश्वराणां भेदभावानभिज्ञानां मायामोहान्धतमसि भृशमनुमूह्यमानानां, धर्मस्वरूपाऽन्योन्याभावैर्विविध कुतर्ककल्ककलुषितत्वेनादिसिद्ध भेदभावमपलपताम्, अविद्या विलक्षणत्वेन वदतो व्याघात नयघातकतया भेदभावमभ्युपगच्छतां सर्वोपरिविवरणीय ब्रह्माविद्यिक दोष=दूषितत्वेनासमञ्जसन्दर्भतया द्वैतदर्शिनां, मायावाद=दर्शनमसमञ्जसम्, क्वचित् शरीरस्य अज्ञाननिमित्तत्वम्, क्वचित्, धर्माधर्म निमित्तत्वं, क्वचिन्महर्षि गौतमादिनामाचार्य्यत्वं, क्वचित् परमाणुवादाभ्युपगमेन

तेषां वेदविरोधित्वं, क्वचित्, ब्रह्मणः परिणामः क्वचिदज्ञानस्य क्वचित् प्रकृतेरेव एवं पूर्वोत्तराननुसन्धानेन स्खलितानि चैतेषां पदे पदे उपलभ्यन्ते किन्तैः ॥

३१—सभ्यगण ! निबन्धतत्वं त्विदमेवाभ्युपगन्तव्यं यदयं मायावादः कल्पान्तर=च्छद्मछन्नतया वाह्यार्थमपलपति पुरुषतदौपानिषदतात्पर्य्य याथार्थ्यविद्भिर्नादरणीयः ॥

इतिशम् । आर्य्यमुनिः—

———:०:———

* विवादः *

पठितनिबन्धे निबन्धकर्तरि

(१) ब्र० विश्वनाथः प्रबन्धं समालोचयितुमग्रेसरोऽभूत् । स इत्थम्प्रारेभे वक्तुम्—'निबन्धशीर्षकाद्योऽस्य निबन्धस्य विषयः कल्प्यते स्म, न तं विषयमवलम्ब्य निबन्धकर्त्रा किमप्युक्तमपि तु विषयान्तरमेवावलम्ब्य यत्किमप्युक्तं, तत्रैव किमप्यभिधीयते । न जगतो ज्ञानबाध्यत्वमिति यदुक्तं, तदसमञ्जसं, वेदेऽपि मुक्तेर्ज्ञानजननीयत्वस्वीकारात् । वेदान्तमतेऽपि प्रकृतिविशिष्टमेव ब्रह्म जगदुत्पादकं न केवलं, तथाचाह श्रुतिः 'तस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' इतिवाक्यानुसारं मायी प्रकृतिविशिष्ट इति ।

(२) ततः पं० रलारामः शास्त्री 'पुरुष एवेदं सर्वं' 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतीनामद्वैतप्रतिपादकत्वात् कथमुपनिषदि द्वैतमुच्यते इति प्रत्यपीपदत् ।

(३) ततो विद्यार्थी सुबोधानन्दो 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णतेच' 'तत्र को मोहः कःशोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादि श्रुतीनाङ्कथन्द्वैतवादे सङ्गतिरिति समपृच्छत् ।

एवमन्येऽप्यनेके वक्तारोऽद्वैतप्रतिपादिनीरनेकाः श्रुतीः प्रादर्शयन् ।

(४) ततः पं० व्रजभूषणः काश्चिदुपनिषत्स्था उक्तीरद्वैतवादप्रतिपादकत्वेन सन्दर्श्य, मायाया लक्षणमिदमुज्जहार-'सत्सामान्याश्रयत्वे सति सद्विशेषबाध्यत्वम्मायात्वम्'

(५) ततो ब्र० इन्द्रः 'निबन्धकर्त्रा नाद्वैतवादखण्डनं व्यधायि, तथाच न 'आत्मा ब्रह्माभिन्नः चेतनत्वाद्ब्रह्मवत्' इत्याद्यनुमानङ्खण्डितम्, नापि तत्त्वमसीत्यादिमहावाक्यानामर्थाः प्रदर्शिताः, न चापिपरमाणुवादप्रकृतिवादयोरन्यतरत्साधित' मित्याख्यातवान् ।

(६) ततो ब्रह्मचारिहरिश्चन्द्रः 'जगन्मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात् शाक्ति-रजतवत्' इत्येतदनुमानन्न निबन्धकर्त्रा खण्डितम्, अपि च द्रव्याभावाद्-गुणानामेव भावाज्जगत्कालपनिकमेव केषांचिन्मते तन्न खण्डितं निब-न्धकर्त्रा इत्याचष्ट ।

ततो निबन्धकर्ता समालोचकोक्तीरालोचयितुमुदतिष्ठत् । स उक्तवान्-

(निबन्धकर्तुः प्रत्युत्तरम्)

मत्समालोचकेष्वन्यतमेनमायावादाद्वैतवादयोर्भेद उक्तः, स न स-मीचीनः; मायासम्भवेऽद्वैतवादस्यासम्भवादद्वैतवादमायावादयोरभेदएव । यत्तु केचिदुपनिषद्वचनान्युपादाय तत्समाधानन्नमयाऽकारीति भाषन्ते, तदपिन, मायावादस्य प्रतिषेधनीयस्वरूपमदर्शयित्वैवतत्रार्थे मन्त्र-प्रतिपादनस्यानर्थकत्वात् । एकमेवाद्वितीयमितिवाक्ये च किमद्विती-यत्वम् । अभावोपलक्षितत्वं चेत् अभावसद्भावादद्वैताभावः । अन्यत्रा-प्युपनिषदि 'तज्जलानितिशान्तउपासीत' इत्यत्रोपासना विहिता, साचो-पासनोपास्योपासकयोर्भेदस्यावास्तविकत्वान्निष्फला एव स्यात् । यत्तु, सत्सामान्याश्रयत्वे सति सद्विशेषबाध्यत्वमिति मायालक्षणं व्यधायि, तत्राशङ्क्यते; किन्नाम बाध्यत्वम् ? पुनरनुत्पाद इतिचेत्-तुलाविधाया-मव्याप्तिः । सद्विशेषबाध्यत्वन्नाम किञ्ज्ञानबाध्यत्वं वा स्वरूपबाध्यत्वम् ? अद्वैतभावजाज्ञानमायास्वरूपयोरसत्त्वादसतो बाधनासम्भवः । एवं समाप्तवक्तव्ये निबन्धकृति सभापतिरित्थन्न्यगमयत्—

(सभापतेर्वक्तृता)

यद्यपि पण्डितार्य्यमुनिना न सर्वं स्थान उक्तम्, तथापि न सर्व-मस्थान एवोक्तम् । मायावादप्रतिपादकश्रुतीनाम्प्रदर्शनमविधाय, यत्कि-मपि मायावादविषये प्रोक्तं, तदप्रासङ्गिकमेव सर्वथा नास्ति । वस्तुतः

शाङ्करवैदिकाद्वैतयोर्महान्भेदः।वैदिकाद्वैते नित्यत्रयस्वीकाराच्छाङ्करमते-चात्मप्रकृत्योर्वास्तविकसत्ताऽनङ्गीकारात् । वैदिकैर्जगन्निमित्तकारणम्ब्रह्मेष्यते,शाङ्करैश्च जगदुपादानकारणम् । ब्रह्मणः शक्तिं सत्त्वरजस्तमोगुणमयीं, वैदिका ब्रह्मणो भिन्नां, शाङ्कराश्चाभिन्नाम्मन्वते । शाङ्करेण योऽद्वैतवाद उपनिषद्भ्यः प्रतिपादितः, स न शाङ्करः; अपितु बौद्धेभ्यो गृहीतः । तथात्र ईशावास्येत्युपनिषत्स्पष्टन्द्वैतप्रतिपादिका; आच्छाद्याच्छादकयोर्भेदात् । 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादौ तदेजतीत्यस्य तदेजयति पदार्थानित्यर्थः, नतु स्वयङ्कम्पतइति । प्रकृतिपरमाणुवादयोः कतरद्ग्राह्य मिति कश्चिदपृच्छत्–तत्रोच्यते, प्रकृतिपरमाणुवाद एवाभिप्रेतोऽस्माकम्,केवलं प्रकृत्यवयवानामेव परमाण्वाख्यत्वात् । का वैदिकानाङ्ख्यातिरिति कश्चित्? तत्रोच्यते, सदसत्ख्यातिरेवास्माकम्मते घटते, अन्यथाख्यातेः साङ्ख्ये निषिद्धत्वात् । यच्च पं०ब्रजभूषणेन मायालक्षणं कृतम्, तदपि न घटते, ब्रह्मण एकस्य सत्वात्तस्मिंश्च सामान्यविशेषभावासद्भावात् । तत्त्वमसीत्यस्य वाक्यार्थे महानस्ति विवादः । वस्तुतस्तु तादित्यस्य तन्निष्ठ इत्यर्थः; तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशादितिब्रह्मसूत्रसाङ्गत्यात् । अहम्ब्रह्मास्मि इतिवाक्यस्य च 'परमात्मनि शुद्ध एवात्मबुद्धिङ् कुरु, इत्ययर्थः । एवमेव योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहमित्यस्यापि च 'अहन्न जन्ममरणवानि' त्येष एवार्थ इतिशम् ॥

ओ३म्

द्वितीयदिनाधिवेशनम् ॥

समवेतेषु यथासमयम्पण्डितेषु, समागते च श्रोतृसमाजे, गृहीते च श्री हरप्रसादस्वामिना सभापत्यासने ब्र० ब्रह्मदत्तः, ब्रह्मचारिणेन्द्रेण कृतानि पद्यानीमानि सुस्वरमुच्चैः पपाठ—

तपःश्रद्धासत्यत्रितयविधिसाक्षात्त्वविषयम्
सुखानन्दोन्मुक्तित्रयनिरवलम्बस्तुतिपदम् ।
त्रिमात्रं चिन्मात्रं मुनिमननपात्रंनिरमलम्
सदोङ्कारं ध्यायेत्परमपदकामप्रगुणधीः ॥

सारस्वतकथा ।

ध्वान्तन्नश्यति शान्तभावमयते-
स्वान्तन्निरन्तोभव-
त्यन्तश्चेतसि कोऽपिषोडषकला-
सम्पन्नचन्द्रोदयः ।
यस्मिँस्तेजसि नश्यदन्धतमसि-
क्षुभ्यत्प्रभाभूयसि-
प्रेक्षातिथ्यमुपेयुषि प्रणतय-
स्तस्मै महन्मन्यवे ॥ १ ॥

सर्गादावनुपात्तबोधविधुरा-
नज्ञानमायावृतान्-
सत्सज्ञानमयै रवन्नस निगमै-
राचार्यताऽऽख्यानभाक् ।
अस्माकं शुभमेलनेऽत्रविदुषां-
सारस्वते प्रेयुषा-

म्माङ्गल्यन्दिशताद्धि तत्र भवता-
ङ्कल्याणवाराान्निधिः ॥ २

प्रकाशं यैर्नीतः समविषमविज्ञानजलधि-
र्नेतेवन्द्याः केषाम्भरतभुवि जाताः मुनिवराः ।
यतस्तेषामासीदिदमखिलमैश्वर्यमतुल-
न्नमोवाचान्देव्यै भवतु शतशो मङ्गलकृते ॥ ३ ॥

भाषामाश्रयताम्परार्द्धगणना-
भाजाङ्गुणानाम्पदं-
याऽतीते युगसप्तके न गमिता-
नाशास्पदत्वं सखे ।
यद् द्वारा भगवानशेषमवदद्-
वेदाभिधं सद्गुरु-
न्तान्निःशेषविदद्भिरर्चितपदा-
ङ्गीर्वाणवाणीं वृणु ॥ ४ ॥

श्रीमद्गौतमभाषितानि वदनं-
चेतःपदे च स्थिताः
पाराशर्य्यगिरो, भुजौ च गहनौ
श्रीजैमिनीयं वचः ।
आत्मा नैगमभाषितानि च सखे-
यस्य श्रुतानि स्वयं-
तन्निःशेष गुणाङ्कितङ्किलनुमः-
सारस्वतं विग्रहम् ॥ ५ ॥

दीनानि प्रभुताम्मृतानि च जनुः
सार्थानि सम्प्रेद्धतां-

सम्पन्नानि च यत्प्रभाववशतो-
मूर्द्धन्यतां लेभिरे ।
निष्पातं समुरेयिरांसि च सखे!
राष्ट्राणिपूर्णोन्नति-
तां विज्ञैरुपवर्ग्यपानमहस-
न्देवीन्नुमो भारतीम् ॥ ६ ॥

शेते सुखम्मनसि या किल कल्पनाज-
प्राचुर्य्यभासितसदन्तरभाजि सभ्याः !
तामत्र लास्यललितामिव भारतीं वः
क्षेमाय भो वृणुत वाग्मिवराभिलाषाः ॥७॥

अपङ्कजस्पर्शविकर्षवत्याः-
जलप्रसङ्गैः परिवर्जितायाः ।
यस्याः श्रियाः सार्द्धममुं वदन्ति-
सत्यन्निबद्धं विपरीतभावम् ॥ ८ ॥

मुखं यदङ्कीकृत रङ्कतायाः
पद्मोजकं साधुमतेः परार्थे ।
तदाश्रयामो वपुराञ्चितायाः-
वयं विद्वन्मण्डलवर्य्य ! वाचः ॥ ९ ॥

तस्योदेति मतिस्तपोऽनुगमना-
चेतस्तदीयम्भव-
त्युन्मादाहतिवाधवन्धुरतमं-
तस्यात्मन श्चेतना ।
येनोद्गाढमशेषकाव्यपयसं
सत्तर्कभूबन्धनम् ।

वेदाकर्षणबन्धसंस्थिरपदं
सारस्वतन्तज्जगत् ॥१०॥

नापेक्षन्ते निगमनविधौ ये सहायं स्वकृत्ये
येषान्नाङ्के क्वचिदपि गतिस्तेजसः साङ्कतायाः ।
ये वर्त्तन्ते सकलजगतान्तुष्टये सोमसङ्गात्
ते युष्माकं दिनमणिसमा हृष्टये सन्तु वेदाः ॥११॥

यस्मिन्नङ्गाभ्यसनमुदितम्पूर्णमासीरकुसं-
यत्रोपाङ्गैरुपनिपतितं स्यन्दनारूढसैन्यैः ।
मन्त्रा यत्र प्रबलमितरत्सर्वसैन्यं सखायः
वेदानान्तत्प्रभवतु बलम्पापविध्वंसनाय ॥ १२ ॥

येषां बोधे प्रणिहितयमाद्यासनान्ताङ्गजाताः
प्राणान्कृत्वा सधृति वशगान्सर्वकामान्विहाय ।
धृत्वा चेतः क्वचिदपि पदे तच्च संयोज्य शम्भौ ।
पारम्पश्यन्स्वसुखजगतां योगसंव्यूढचित्ताः ॥१३॥

प्रत्यक्षार्थे निगमनपटुष्विन्द्रियेषु स्थितेषु
प्रत्यक्षस्मिन्नपि च सकले वस्तुबोधप्रकारे ।
येषाञ्ज्ञानादिह खलु कृते कस्यचिन्नाभ्युदेति
निष्प्रत्यूहः समसवितथो निष्कलङ्कः प्रबोधः ॥१४॥

येषां वीर्य्यादखिलमतरद्दुःखवार्धिवसिष्ठः ।
नीतः काञ्चित्परमपदवीं योगिमेधातिथिर्यैः ।
येषां वश्या नियतमभवत्सा दयानन्दभूतिः ।
तेऽस्मान्वेदाः नियतनियतेः संसृतेस्तारयन्तु ॥ १५ ॥

गभीरम्भूयस्त्वात्पदविनिहितार्थस्य, मधुरम्
कृतत्वाल्लालित्योल्लसितकमनीयोत्कलपदैः ।

निबद्धं शब्दार्थप्रकटघटनाबोधसुलभं ।
प्रकुर्वन्तः काव्यङ्कविपदजुषः सन्तु विबुधाः ॥१६॥
रसामोदभ्राम्यद्रसिकमधुपान्दोलनरुचीन् ।
सरूपैकप्रान्तप्रतिवलितसत्पत्ररचनान् ।
जगन्मोदक्रान्त्यै खलु विदधतः काव्यकुसुमान् ।
जयन्तुश्रीमन्तः परमकरयः शब्दनिचयः ॥१७॥
गता कीर्त्तिर्येषां किल धवलयन्ती वसुमती-
मपि द्राक् पातालं वचनरचनाऽर्थान्तरकलाम् ।
मनः काव्यानन्दाम्बुधिमितमथात्माप्रणिहितः ।
स्मृतास्ते वर्तन्ताञ्जगति किल वाल्मीकिकवयः ॥१८॥
शिरःकम्पञ्चेतः परविषयशोषन्तनुमपि-
प्रकुप्यद्रोमाञ्चप्रकरजटितत्वन्द्रुमइव ।
गतानःश्रोत्राणामिह विषयतां या विदधाति ।
गिरस्ताःवाल्मीकेर्मम मनसि सन्तु स्थिररसाः॥ १६ ॥
यथाऽऽताम्यच्चेतः प्रकृतिविधुराणामपिनृणा-
मकार्षीद्यावीरान्मृगपतिदुरीक्षान्नृपसुतान् ।
कथा सा वीरश्रीरिव मनसि वीर्यम्प्रजनय-
न्त्यनन्या व्यासोक्ता जयति जगताम्मण्डनमिव ॥२०॥

यश्छत्रं सत्कवीनां-
रुचिरसुरगिरां यश्च नो मेघदूतः ।
यश्चित्रैर्भूरिवर्णै-
रुपादिशति पदैश्चारुशाकुन्तलाख्यम् ।
सूरित्वाद्योऽनुशेते
कविवरविदितं राघवम्मित्रवंशं-

मूर्ध्नातङ्कालिदासं
रुचिरकविकृतौ देशिकं सन्नतोऽहम् ।
यदिनासकलाम्बुभुत्ससि
यदिपातुन्तव कामना सुधाम् ।
परिहाय तदीयमाधव-
म्भवभूतिःपरिषेव्यतां सखे ! ॥२२॥

आस्ताङ्कथा विरतचारुगिराङ्कवीना-
न्नाकाङ्क्षितम्ममसखे ! कविरत्नदुःखम् ।
आख्यायते विकलिता तु दशा मयेय-
माम्लानसंस्कृतगिरामविरामकष्टा ॥२३॥

बीजम्प्रभुनिर्गमवाङ्मयमभ्युवाप
तस्याङ्कुरं समपुपत्स हि सूरिराद्यः ।
अस्थूलयंश्चकवयः किल वाग्द्रुमं य-
न्म्लानः स भूमिशयने विलयं समेति ॥ २४ ॥

न श्रोतुमद्य जनमेजयसाम्यभाजो-
नाप्याश्रयाय खलु विक्रमभूमिपालाः ।
केषाङ्कृते, क्व, कथञ्च, किमाश्रयेण
कुर्वन्तु काव्यरचनाङ्कवयःसखायाः । २५॥

याऽसूत भारतधरा कविकालिदासं
यस्याःसुतत्वमगमत्किलगौतमोऽपि ।
साऽङ्के निधाय किल काष्ठमयान्मनुष्यान्
भाग्यानि निन्दति निजानिबुधैर्विहीना ॥२६॥

साम्प्रदूगता किमपरां स्वपदेनिधाय
गङ्गा न सा किमुपशास्ति तदीयदेशान् ।

यस्यैव भारतधरा विदुषाम्प्रसूति-
रद्य प्रसारयति मूर्खविभूतिजालम् ॥२७॥
त्वय्याहते भरतभूमि ! कवित्वभाजो-
जाताः न कत्यमरकोशपदोच्चयज्ञाः ।
काव्यान्यधीय कतिचिन्नगताः कियन्त-
श्छन्दोविदश्च कविरत्नपदाभिधानम् ॥२८॥
सन्त्येव न प्रणयिनोऽपत्रयदार्यवाचां
सन्तोऽपि यत्कविविधानकलाऽनभिज्ञाः ।
विज्ञाश्च ये पुरुषकारविनाकृतास्ते ।
तन्मे मनो दहति किङ्कृतितापि मूढम् ॥ २९ ॥
शास्त्रीयकर्कशविचारसमर्चनीया ।
विद्यात्रयस्तवनभूषणकीर्तनीया ॥
कालप्रभाववशतोऽद्यगिरासुराणा-
मज्ञानराशिरिति कैश्चदुपेक्ष्यते सा ॥ ३० ॥
सूर्यातपेन परिपीतजलेवगङ्गा
मेघैस्तिरोहितशशाङ्ककलेव च द्यौः ॥
एषाऽद्यभारतधरा कविभिर्विहीना ।
साक्रन्दमाश्रयति हन्त भवत्पदानि ॥ ३१ ॥
संरक्ष्यताम्भृशभयग्रसितेवमाता ।
सम्पाल्यतां यवनखड्गगतेव धेनुः ॥
सन्धार्यतां सुरभिपुष्पमयीव माला ।
सम्पूज्यतान्निगमवागियमैन्द्रवीव ॥ ३२ ॥
सारस्वतं सदनमेतदुपेयुषां वः ।
कृत्वा नतिञ्चरणयो र्यदवोचमिन्द्रः ॥

बाल्यस्य भूषणमितिस्खलितम्ममैत-
दित्येव चेतसि निधाय बुधाःक्षमध्वम् ॥ ३३ ॥

पठितवति ब्रह्मचारिणि पद्यजातं, ब्रह्मचारी जयचन्द्रः 'यास्कीयाः राद्धान्ता आर्य्यमतानुकूला नवे' तिविषयमवलम्ब्य निबन्धमेतमपठत्—

॥ ओ३म् ॥

यास्कीया राद्धान्ता आर्यमतानुकूला नवा ?

मान्य सभापते, श्रीमन् गुरुकुलाचार्य, उपस्थितसभ्य-महोदयाः सब्रह्मचारिणश्च !

एवमत्रभवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु यद्

अद्य किल भवत्समक्षं "यास्कीया राद्धान्ता आर्य्यसमाजस्य मतानुकूलानवे"ति विषयमलम्ब्य किंञ्चिद्वक्तुकामोऽस्मीति। यद्यपि नाहमस्मिन् विषये कृतभूरिपरिश्रमोऽस्मि, नाऽपि यास्कीयायां गभीरायां भणितिसरिति यथोचितं कृतावगाहनोऽस्मि, नचापि गीर्वाणवाण्यामलौकिकं किमपि वाचोयुक्तिपाटवं समुपलब्धवानस्मि, हन्त भोः ! नापि इतः पूर्वमीदृशे विषमे पथि जात्वपि पदं निहितवानस्मि, अतएव युष्मादृशां शेमुषीमताम्पुरस्सराणां पुरो मदीयोऽयम्प्रथम एव साहसावसरः; तथापि गुणैकगृह्याः सज्जनाः मतविभेदेऽपि "धैर्यधना हि साधवः" इतीमामनन्यशरणां लौकिकीमुक्तिं नैजाश्रयविश्राणनेन परिपालयिष्यन्तीति ध्रुवमहमाशासे !

सभ्याः, यद्यपि समुपलभ्यमाननिरुक्तस्य प्रणेता यास्क इत्येतत्कथनस्य पोषकम्प्रमाणमैतिह्यादृते न किमप्युपलभ्यते; यतो ग्रन्थकृताऽऽदिमध्यावसानेषु नैजाख्यानं सर्वथाप्यनाख्यातमेव, तथापि निरुक्तकृद्यास्कः, निरुक्ते प्रतिपादिता राद्धान्ताः

यास्कस्यैवेति भवदङ्गीकृतमेवोररीकुर्वाणो नापराध्यत्ययं निबन्धकृत्, आर्य्यसमाजस्य मतन्तदेवात्र स्वीकृतम्—यत्सत्यार्थप्रकाशादिषु ग्रन्थेषु स्वर्गतैर्विमुक्तैर्वा सुगृहीतनामभिः श्रीस्वामिदयानन्दसरस्वतीभिर्विशदीकृतम् । तदिदानीं यास्कदयानन्दकृतिषु मिथोविरोधाविरोधावेव भङ्ग्यन्तरेण प्रदर्शनीयौ भवतः, दुरवबोधगम्भीरमहिमानो द्राघीयांसो मुनिब्रह्मर्षयोर्ग्रन्थाः न खलु ईदृशे निबन्धके निःशेषतया शक्याः पर्यालोचितुमिति विदाङ्कुर्वन्त्येव विज्ञाः पारिषद्याः । तथापि निरुक्ते प्रधानतया प्रतिपदं प्रतिपादितानेव राद्धान्तानधिकृत्य विचारयितुमीहामहे, !

ननु भोः किमेवमुदीर्य्यते, " मुनिब्रह्मर्षिकृतिषु मिथो विरोधाविरोधौ सगोत्रकलहो नाम" । कालक्रमवशात् प्रणष्टेष्वनेकेष्वार्षग्रन्थेषु निगमार्थावबोधोपयिके, केवलमेकस्मिन्नेव यथाकथमवशिष्टे पुस्तकरत्ने, विशेषतश्च आर्यसमाजस्य सूत्रधारेण महामहिम्ना स्वामिनाऽपि तत्र तत्र वहुत्र समादृते, निरुक्ते कोऽयं विरोधोपन्यासो नाम ! विरोधपदोपात्तमेतद्वचो भृशं शिरःशूलमुत्कोपयति नः ।

सभ्याः, अलमावेगेन । आर्यसमाजस्य वहुमानपात्रे, निष्पादपे देश एरण्डे इव द्रुमायमाणेऽस्मिन् निरुक्त, आर्यसामाजिक राद्धान्तविरोधोपन्यसनं न कस्य सहृदयस्य मानसमत्यर्थं दुनोतितराम् , परं किमत्र विधीयतामिति भवद्भिरेवाकलनीयम् । निर्मत्सरं निष्पक्षञ्च यथास्वं विरोधाविरोधवर्णनां वर्णयतो न खलु कस्याऽपि जन्तोर्मन्तोर्लवोऽपीत्यस्माकं सुस्थिरो निश्चयः ।

तत्र तावद्वैदिकी रचना सकलब्रह्माण्डस्य कृते उतास्यैव भूलोकस्येति विषयमवलम्ब्य प्रस्तोतुमुपक्रम्यते ।

को न वेद, वैदिकीं रचनां सकलजगतां हिताय व्यपदिशन्ती-मार्यसामाजिकानां विख्यातां वाचोयुक्तिम् ।

निखिलजगताम्प्रणेतुर्निजेन विज्ञानेनापि समेनैव भाव्यमिति वार्त्ततरं युक्तियुक्तञ्च नः प्रतिभाति ।

परं, यास्कीये निरुक्ते नैष विचार उपन्यस्तो ध्वनितो वा, ध्वनि-तस्तु तद्विरुद्धार्थप्रतिपादनपरोऽर्थो द्वादशा० (निरुक्त, ४अ०, ४पाद) इति मन्त्रयोर्व्याख्यानावसरे । तथाहि-"द्वादशारं नहि तजराय 'द्वादश प्रधयश्च क्रमेकं' इति मासानाम्। 'तास्मिन् साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः' षष्टिश्च ह वै त्रीणिच शतानि संवत्सरस्याहोरात्रा इति च ब्राह्मणं समासेन, 'सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः' सप्तच वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्रा इति च ब्राह्मणं विभागेनेति" प्रत्यपादि भगवता यास्केन चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थे चरणे । नात्र भगवतो यास्कस्य राद्धान्तमाकलयितुं लेशतोऽपि सूक्ष्मेक्षिकया समी-क्षणमावश्यकम्; अत्राहि विस्पष्टमेव मुनिरस्यैव भूमण्डलस्य वर्णनं मन्त्रयोर्वर्णयति। नहि द्वादशमासात्मकः, समासतःषष्ट्युत्तर त्रिशत-वासरात्मको व्यासतश्च विंशत्युत्तर सप्तशतदिनात्मकः संवत्सरः सकल-लोकेषु विद्यते । एवं हि संगिरन्ते पाश्चात्याः कार्त्तान्तिकाः । बुध-शुक्रादिषु नवसु ग्रहेषु व्यतिभिदतामेव सन्ति गतानि वत्सराणीति । तथाहि, बुधस्य वत्सरोऽस्माकञ्चतुरशीतिदिनात्मकः, शुक्रस्य चतु-र्विंशत्युत्तरद्विशतदिनात्मक एकश्च शुक्रगतो वासरोऽस्माकं सपाद त्रयोविंशतिदिनात्मकः । शनैश्चरस्यैकोवत्सरोऽस्माकं त्रिंशद्वर्षात्मकः, एकश्चवासरो दशदिनात्मकः, एवमितरेष्वपि ग्रहेषु भेद एव वर्ण्यते वैज्ञानिकैः, यदा केवलमास्माकसौरमण्डलवर्तिग्रहाणामेव वत्सरेषु तावान्

लक्ष्यते भेदः, किमु वक्तव्यंब्रह्माण्डोदरवर्तिनामनन्तानां लोकानाम् । न चैते वैज्ञानिकाः सकलोपकरणोपेताश्चिराय कृतभूरिपरिश्रमाः सर्वेऽपि वितथभाषिण इति शक्यं केनापि सहसा धीमता वक्तुम् ।

तस्माद्यास्कमतानुसारेण वेदे आस्माकीनसंवत्सरस्यैव विद्यते वर्णनं न पुनर्विश्वलोकवर्त्तिनामिति सिद्धम् । तस्मादास्माकीनमेव वत्सरादिकं कीर्त्तयन् वेदोऽस्मद्धितायैव केवलं प्रवृत्त इतिव्यक्तमेव ध्वनयति निरुक्तकारः ! एवञ्च स्वीकृते वेदस्य विश्वजनीनता पराहतैवेति सुस्पष्टमेव ।

एतदेव दूषणमाकलय्याधुनिको योगी देशिकवर्य्यः श्रीस्वामिदयानन्दोऽन्यथैव व्याचख्यांविमौ मन्त्रौ । एषचैनयोर्भावार्थोऽलेखि तेन। यथा "कालोऽनन्तोऽपरिणामो विभुश्चवर्त्तते,नैवतस्य कदाचिदुत्पत्तिर्विनाशोवाऽस्ति, एतज्जगतः कारणे विंशत्युत्तराणि यानि सप्तशतानि तत्त्वानि सन्ति तानि मिलित्वा स्थूलानीश्वरनियोगेन जातानि सन्ति । यावद्भिन्नान्येतानि तत्त्वानि प्रत्यक्षतया न जानीयात्तावद्विद्यावृद्धये मनुष्यः प्रयतेत ।"

"तथा—केचिदेव विद्वांसो यथा शरीररचनां जानन्ति, तथा विमानादियाननिर्माणं विदन्ति । यदा जलस्थलाकाशेषु सद्योगमनाय यानानि निर्मातुमिच्छाजायते,तदातेष्वनेकानि जलाग्निचक्राण्यनेकानि बन्धनानि, धारणानि, कीलकाश्च रचनीयाः, एवं कृतेऽभीष्टसिद्धिः स्यादिति "

स्वामिकृतोऽर्थो युक्ततरो यास्ककृतोवेत्यास्तां तावदेष प्रश्नः, परं स्वामिदयानन्दनये सकलजगतां हिताय वैदिकीरचना यास्कनयेन चास्यैव भूमण्डलस्येति तु व्यक्तमेव ।

अयं मन्त्रो निरुक्ते व्याख्यात इत्युक्तापि यदन्यथैव व्याचख्यौ दयानन्दो, नूनं विश्वजनीनामेव वैदिकीं रचनामुद्दिश्य तथान्याख्यातवानिति वयम् ।

निदर्शनमात्रञ्चेदम् । सन्ति हि भूयांसो मन्त्राः "इमं मे गङ्गे यमुने" इत्यमेवमादयः, येष्वार्यावर्त्तीयनदीनामेव कीर्तनं कृतवान् यास्कः । तस्मात्सिद्धं यास्कनये, न खलु वैदिकी रचना विश्वजनीनेति ।

विदितवेदितव्याः पारिषद्याः, सुदूरमस्माभिरस्ति गन्तव्यम् । अद्याप्यनेकगव्यूतिमितोऽध्वा पुरतोऽवशिष्यते गन्तुम् । तदिमं विचारमिहैव परित्यज्य साम्प्रतं व्रजामो यास्कीयान् वेदार्थान्निरूपयितुम् ।

कियदुपकर्तुमार्यसमाजस्य समर्थमिदं निरुक्तमित्येषाविचारणाऽपि नात्रानुपयोगिनी, अनुचिता, कालाननुरूपा वा भविष्यति । सम्प्रति कालचक्रप्रभावाद्विशालं वैदिकसाहित्यं विकरालकालोदरे प्रलीनप्रायमेव । नाद्योपलभ्यन्तेकल्पग्रन्थाः ! नाऽपिवेदान्तेषु यत्र तत्र प्रकीर्त्तिताः श्लोकाभिधग्रन्थवर्तिन्यो महर्षीणां गम्भीरा व्यूतयः, नैवोपलभ्यन्तेऽवशिष्टानि त्रयोदश निरुक्तानि ! बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि तु साम्प्रतं स्वत एव दुरवबोधतां गतानि, न किलाऽस्मत्प्रयोजनायालम् ।

एवं गते चतुर्दशतममिदं निरुक्तं कथमपि विकरालकालगलाद्वहिरवशिष्टं समीक्ष्य परं सन्तोष मावहति नश्चेतः ।

परमिहत्यापि व्याख्यारीतिर्नास्ति वचनीयताविहीना । सन्ति हि, अविस्पष्टता, बुद्धिविरुद्धसिद्धान्तप्रतिपादनम् , अश्लीलता, मन्त्राणां महत्त्वाप्रतिपत्तिः, ऐतिहासिकपक्षसमाश्रय इत्येवमादयः प्रचुराः दोषाः । तदेतन्निदर्शनपुरस्सरमेव प्रदर्शयितुम्प्रयतामहे ।

१ प्रथमस्तावद् दोषोऽविस्पष्टातानाम !

सभ्याः, नात्र किमपि बहु वक्तव्यमस्ति। पाणौ प्रगृह्य निरुक्त-पुस्तकं, कस्यचिदपि मन्त्रस्य व्याख्यायां तदीयंशिरःपादोवा लब्ध्वा प्रदर्शनीयः स्वयम्। तथापि दिग्दर्शनाय एको मन्त्र उद्ध्रियते। तद्यथा-

"नूनं साते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्रदक्षिणामघोनी । शिक्षा स्तोतृभ्यो मातिधग्भगोनो वृहद्वदेम विदथेसुवीराः ।" अत्रैवमाह यास्कः "साते प्रति दुग्धां वरं जरित्रे । वरोवरयितव्यो भवति. । जरिता गरिता । दक्षिणामघोनी मघवती । मघमिति धननामधेयं महतेर्दानकर्मणः । दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणो व्यृद्धंसमर्धयतीति । अपिवा प्रदक्षिणागमनाद् दिशामभिप्रेत्य, दिग्घस्तप्रकृतिर्दक्षिणोहस्तो दक्षते रुत्साह कर्मणो दाशतेर्वास्याद्दानकर्मणो हस्तोहन्तेः प्राशुर्हनने । देहि स्तोतृभ्यः कामान् । माऽस्मानातिदंघीमास्मानातिहायदाः । भगोनोऽस्तु वृहद्वदेमस्ववेदने, भगोभजतेः । बृहदितिमहतोनामधेयं परिवृढं भवति, वीरवन्तः कल्याणवीरावा । वीरोवीरयत्यमित्रान् वेत्तेर्वास्याद्गतिकर्मणो वीरयतेर्वा ।" हन्तभोः! जितं काव्यैरेव, यै कारुणिकाः शरण्याः मल्लिनाथादय एव समाश्रिताः !

२ बुद्धिविरुद्धार्थप्रतिपादनं नाम द्वितीयं दूषणम् ।

यथाह भगवान् !—"अथास्यैकोरश्मिश्चन्द्रमसं प्रतिदीप्यते । तदेतेनोपेक्षितव्यम् । आदित्यतोऽस्यदीप्तिर्भवतीति" ।

इञ्चात्मकं स्थलमाच्छादयितुं यत्र शतशो गभस्तिमतो मरीचयः समपेक्ष्यन्ते इत्यामनन्ति वैज्ञानिकाः—तत्रायं यास्क एकेनैव मयूखेन सकलमपिचन्द्रलोकं समुद्दीपयतीत्यहो वचसामगोचरो भगवतोयास्कस्य समीक्ष्यवादितायाः गरिमा !

३ अथ यास्कीयव्याख्यायामश्लीलता नाम तृतीयोदोषः।

पारिषद्याः, न खलु मादृशेन ब्रह्मचारिणा, विशेषतश्च युष्मादृशैः विपश्चिद्भिः साद्भिः सनाथितायाम्परिषदि, वहु वक्तव्यमत्र विषये। तथापि निदर्शनार्थम्—

"उर्वश्यप्सराबभूव। तस्याः दर्शनान्मित्रावरुणयोरेतश्चस्कन्द। तदाभिवादिन्येषा ऋग् "उतासिमैत्रावरुणोवसिष्ठोर्वश्या—ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः" तथा

"नदस्यमारुधतः कामआगन्" इति मन्त्रस्यव्याख्यायां नद् ऋषिः। नदतेः स्तुति कर्मणः। नदनस्य मारुधतः काम आगमत्सं रुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिण इत्यृषिपुत्र्याः (लोपामुद्रायाः) विलपितं वेदयन्ते" । इत्येवमादीनि स्थलानि निरुक्ते स्वतः समालोचनीयानि।

स्वामिभिरपि दर्शितोऽस्यमन्त्रस्य श्रेष्ठतरोऽर्थः स चापि तदीय ऋग्वेदभाष्ये द्रष्टव्यः।

४ यास्कीयव्याख्यातो वेदस्यमहत्त्वाप्रतिपत्तिश्चतुर्थोदोषः,

न खलु न विदितमस्ति निरुक्ते कृतपरिश्रमाणामत्र भवताम्। यदयं यास्को विशिष्य, सोमवर्णनं, तत्सम्पादनप्रकारं, मेघस्य वर्षणं विद्युतश्च विद्योतनमेव प्रायो मन्त्रेषु वर्णयति। न पुनर्वेदस्य महत्वबोधकं किञ्चिदपूर्वं वस्तु। नेदं वेदस्य कृत्यं यदेष मेघस्य वर्षणं विद्युतश्च विद्योतनमेव केवलम्प्रतिपादयेत्। यद्धि लोके जडा अपि, मन्दा अपि, प्राकृतजना अपि विदुः! केन प्रकारेण केन वा नियमेन

वारिवाहो वारां धारासारान् विमुञ्चतीति, सत्स्वप्यवसरेषु "अपां विलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वां अपतद्ववारेत्यादिमन्त्रेषु न प्रादर्शि यास्केन। अस्ति ह्येको मन्त्रो निरुक्ते।

"कारुरहं ततोभिषक्, उपलप्रक्षिणीनना नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव, तस्थिम। इन्द्रायेन्दोपरिस्त्रवेति।" अस्य मन्त्रस्य यास्कप्रदर्शितोऽयमर्थः। "(शिशुराङ्गिरस आह) जात्वपि अहं कर्त्ता स्तोमानामभवम्। मम पिता वा पुत्रो वा भिषगासीत्। मम माता वा दुहिता वा सक्तूनां पेष्ट्री अभवत्। ते एते वयं धनकामाःस्म, तस्मात्, हे सोम, इन्द्राय परिस्त्रवेति।" तथापरोऽस्तिमन्त्रः

"संवत्सरं शिशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
बाचस्पर्जन्याजिन्वितामप्रमण्डूका अवादिषुः। इति"

अस्यापि मन्त्रस्यार्थः श्रीमाद्भिः श्रवसोरतिथीकरणीयः। "संवत्सरं शिशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणोऽब्रुवाणाः। अपिवोपमार्थेस्यात्। ब्राह्मणा इव व्रतचारिणः इति। वाचम्पर्जन्यप्रीतां प्रावादिषुर्मण्डूकाः वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव। तं मण्डूका अन्वमोदन्त स मण्डूकानन्नुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टावेति।"

को नु समीक्ष्यकारी यास्ककृतानीदृशान्मन्त्रार्थान् समीक्ष्य वेदेषु श्रद्दधीत ?

एतावता प्रवन्धेन मया प्रादर्शि, यदेषा व्याख्यापद्धति र्नास्ति श्रेयो मार्गावलम्बिनी। परमाय्र्यसामाजिकान् विशिष्य नोपक

समर्थेयं यास्कीया व्याख्यासरणिः । यदयमैतिहासिकपक्षमप्यवाल-
लम्बे निरुक्तकृत् ।

सखेदं दरीदृश्यते । यदिदानीन्तना पण्डितमण्डली प्रायेण थ्यासोफिस्टायमानेव लक्ष्यते । कालोचितमधिष्ठितसमाजतानुरूपञ्च पुरातनग्रन्थन्नेतुं प्रतिकोषमन्विष्य, अभिधानानामभिधेयविपर्यासे, लिङ्गालंकारव्यत्यये च तथा पाडित्यप्रकर्षं वैदग्ध्योत्कर्षञ्चवितन्वते, यथा चक्षुष्मन्तोऽपि, धीमन्तोऽपि, धूलिधूसरितनेत्रपात्राः श्रोतारोऽन्ध-तामेवोपयान्ति । "पुराणमित्येव न साधु सर्वं नचापि सर्वं नवमित्य-वद्यमिति" कस्यचित्समीक्ष्य वादिनोभणितिन्तु सर्वथापि नैवाद्रियन्ते ते ! अवश्यं हि गर्हणीयोऽयमाचारः पण्डितवर्गस्य । कः सुधी र्नाम नाभिनन्दति यास्कीयान् शब्दनिर्वचनमार्गान् । परं नैवेश्वर आज्ञापयति, नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति, यत्सर्वे ग्रन्थाः, सर्वलोकेन, सर्वांसेन सर्वथा, सर्वदा च स्वीकर्त्तव्या एवेति ।

'काचोमणिः, मणिः काच' इति शक्यं साधयितुं युक्तिजालाव लम्बिना केनाऽपि वावदूकेन, परं काचः काचोमणिर्मणिरेवेति विफल-मेवतस्य पाण्डित्यमिति सुदृढोऽयमस्माकं निश्चयः ।

तदिदानीं प्रयतामहे यास्कनयेन वेदेष्वितिहासान् प्रदर्शयितुं-यद्यप्येष यास्को नैरुक्तस्तथापि महदाश्चर्यं—यदयं यत्रतत्र वहुत्र ऐतिहासिकमपि पक्षमूरीकृतवान् !

आसन् हि यास्ककाले ऐतिहासिकाः परमं प्राबल्यम्प्राप्ता इति तु निरुक्तत एव व्यक्तं प्रतीयते । "तत्कोवृत्रः मेघइति नैरुक्तास्त्वा-

ष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः, तत्रेतिहासमाचक्षते" इति प्रतिपदं लेखस्य समुपलम्भात् ।

अहो ! कीदृशीम्प्रबलतामापुरैतिहासिका भुवमलङ्कुर्वति भगवति यास्के निरुक्तकृति; यदेष नैरुक्तोऽपि सन् बहुधा ऐतिहासिकमेव पक्षं पुपोष ! तदेतन्निदर्शनपुरस्सरम्प्रदर्शयितुमिच्छामः । अस्तिहि निरुक्ते समुद्धृतो; "ननूनमस्ति नोश्वः कस्तद्वेद" इति मंत्रः, अत्र स्वामिनाऽपि कृतोऽर्थ, एष च तस्य भावार्थो लिखितः "यो जीवो भूत्वा न जायते भूत्वान विनश्यति, नित्य आश्चर्यगुणकर्मस्वभावोऽनादिश्चेतनो वर्त्तते—तस्यवेत्ताऽप्याश्चर्य्यभूतः।" अयं यास्कः पुनरिममित्थमवातारयत्-"अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे न नूनमिति" यास्कनयेन चास्यायमाशयः, 'इन्द्रो वदति, अद्यतनं हविर्मम नास्ति श्वस्तेन का प्रत्याशा, यतोऽन्यस्य चित्तं सञ्चरेण्यमनेवस्थितमस्ति, अस्मदर्थमाध्यातमपि हविः पुनरन्यस्मै प्रदीयत इति ।'

सभ्याः ! दृष्टो भवद्भिरस्य मन्त्रस्योभयविधोऽप्यर्थः— निरुक्तकारेण कृतोऽस्यमन्त्रस्यार्थ इति विजानन्नपि अनाद्रियमाणो भिन्नमेवार्थम्प्रकल्पयामास दय नन्दः सरस्वती । अत्र पुनः कश्चिदेवमाह, न यास्कस्याभिमत ऐतिहासिकः पक्षः मन्त्रार्थस्य सुखावबोधायैव भगवान् प्रचलितगाथावर्णन पुरस्सरंमन्त्रानेवमवतारयामासेति । हन्त भोः ? सूनृतं भाषसे, परं नखलु वयमप्यनेलमूका एडा जडा

वा सन्त एवमनुरुध्यामहे यास्कस्यैतिहासिकपरतां साग्रहं प्रतिपादयितुम् ।

यदि हि भगवान्नैवं मन्त्रानवातरिष्यत् क एवमवक्ष्यत । तस्य हृद्गतम्भावं वेदितु तु नाहं प्रभुर्नापि भवान् । तदलं पल्लवितेन । किं गाथा यास्ककाले एवाभवन्, न पुनर्दयानन्दकाले बभूवुः ? सत्सु कथाऽकूपारेष्वष्टादशसु पुराणेषु चोपपुराणेषु इतरेषु च कथासरित्सागरप्रभृतिषु ग्रन्थेषु न शक्यं दयानन्दकाले गाथाव्यपोहनम् । यदि हि दयानन्दोऽपि वेदे इतिहासानमंस्यत, हन्तभोः प्रतिमन्त्रं गाथापुरस्सरमेव व्याख्यास्यत । यस्मात्तु नैवमकरोद्यतिवरः, चकार तु भगवान् यास्क एव गाथामामवतरणम्, तस्मात्सिद्धम्भवति यास्कस्यैतिहासिकपक्षाविरोधित्वम् ।

अथायमपरो मन्त्रोवतार्यते,

अस्तिहि मूषिकापरपर्यायो मूषः इति बहुवचनान्तः शब्दो निघण्टौ पठितः । तदुदाहरणभूताऽस्त्येषा ऋक्—"सम्मातपन्त्यभितस्सपत्नीरिव पर्शवः, मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यस्तो इत्यादि"। इयञ्चास्य यास्कीया व्याख्या। "सन्तपन्ति मामभितः सपत्न्यइव इमाःपर्शवः कूपपर्शवः, मूषिका इवास्नातानि सूत्राणि व्यदन्ति । सन्तपन्तिमाध्यः कामाः । स्तोतारं ते शतक्रतो, वित्तंमे अस्य रोदसी जानीतं मे अस्यद्यावापृथिव्याविति । त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ । तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रं ऋङ्मिश्रं गाथा मिश्रम्भवति । त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव । अपिवा संख्या नामैवाभिप्रेतं स्यादेकतो द्वितस्त्रित इति त्रयोबभूवुः" अस्य च निरुक्तस्थलस्य स्पष्टीकरणाय संक्षेपतो दुर्गाचार्यकृतोऽर्थो लिख्यते ।

"सन्तपन्ति मामभितः सर्वतोऽवस्थिताः कूपे पतितस्य एताः कूपपर्शवः कूपेष्टिकाः, सङ्कटेऽवस्थितम् यथा समानभर्तृका योषितोऽभिसन्तपेयुरेकंभर्त्तारं दुर्वचोभिः । इदमस्या ! त्वयाकृतम् इदं मम न कृतमिति, एवं मामेताः कूपेष्टिकाः सम्पीडयन्ति, किञ्च मूषिका इवान्नमिश्राणि सूत्राणि व्यदन्ति । एवं आधयःकामा सोमेन यक्ष्ये, दास्ये, भोक्ष्ये इत्येवमादयः पीडयन्ति मामसम्पूर्यमाणाः, हे शतक्रतो ! एतेकामा, एताश्चकूपपर्शवः मामुभयतः सन्तापयन्ति पर्शव इत्येतावति श्रूयमाणे कुतएतत् कूपपर्शवः इति ? तत्राह त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तम्प्रतिबभौ । कथम्पुनर्वेदेऽपीदृश इतिहासः तत्राह "तत्र ब्रह्म इतिहासमिश्रं ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति" । कः पुनरासीत् त्रितः योहि कूपे पतित एवं देवानाहूतवान् परित्राणायेत्येतदर्थमामनन्तीतिहासं शाकट्यायनिनः । तद्यथा—

"एकतो द्वितस्त्रित इति त्रय ऋषयो बभूवुः ते कदाचिन्मरु भूमावरण्ये वर्त्तमानाः पिपासया सन्तप्तगात्राः सन्त एकं कूपमविन्दन् तत्र त्रिताख्यएको जलपानाय कूपं प्राविशत् । स्वयम्पीत्वा इतरयोश्च कूपादुदकमुद्धृत्य प्रादात् । तौ तदुदकं पीत्वा त्रितं कूपे पातयित्वा तदीयं धनं सर्वमपहृत्य कूपञ्च रथचक्रेणपिधाय प्रास्थिषाताम् । तत्र कूपे पतितस्त्रितः कूपादुत्तरीतुमशक्तुवन् सर्वे देवामामुद्धरन्तु इति मनसा सस्मार । ततस्तेषां तावदिदं स्तावकमिदं सूक्तमिति ।"

सभ्याः ! दृष्टो भवद्भिः यास्ककृतोऽर्थः, स्वामिकृतोऽर्थोऽप्यत्रत्यः समालोचनीयस्तदीयभाष्ये । पुरा समापतति महान्तं विस्तरं निबन्ध इति नात्र शक्यते लेखितुम् ।

अत्रतु साक्षादेव ब्रह्मणि वेदे इतिहासः प्रत्यपादि भगवता यास्केन।

अयि सभ्याः ! न केवलं वेदेषु इतिहासा एव प्रतिपादिता यास्केन, अपि तु ऋषिभिः साकं नदीनां सम्भाषणमपि प्रावाचि ! अवश्यमिदं निशम्य भवतां चेतस्सु समुदेष्यति कुतूहलम्, तदपनोदार्थमुद्धरामो निरुक्तस्थलम्।

"तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वामित्रऋषिःसुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव। स वित्तं गृहीत्वा विपाट्शतुद्र्योः संभेदमाययौ–अनुययुरितरे–सविश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव गाधाभवतेति।

'रमध्वं मेवचसे सोम्याय ऋतावरीरुपमुहूर्त्तमेवैः–प्रसिन्धुमच्छावृहती मनीषा वस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः।

इदं श्रुत्वा नद्यः प्रत्यूचुः–

'इन्द्रो अस्मानरदद्वज्रवाहुर पाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्–देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः'।

एवं प्रत्याख्यायान्ततः आशुश्रुवुः

'आ ते कारो श्रृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसारथेनेत्ये'वमादिः। एवमत्र तिस्र ऋचः सन्ति। यासु प्रथमा नदीं प्रति विश्वामित्रस्योक्ति रूपा, द्वितीया ऋग् नदीनां तम्प्रतिप्रत्युक्तिरूपा, तृतीययांच तस्मै मार्गदानरूपः स्वीकारः। क एतानर्थान् दृष्ट्वा भगवतो यास्कस्यैतिहासिकत्वे सन्देहलवमपि विदध्यात्। सभ्याः ! यदि सत्यः इतिहासविरहितोवाऽर्थः समीक्षणीयोऽस्ति, तर्हि द्रष्टव्यं स्वामिनऋग्वेदभाष्यम्। अस्तिहि कृतोऽर्थ आसामपि ऋचां स्वामिना।

अथायमपरो मन्त्रः प्रदर्श्यते,

"प्रियमेभवदत्रिवजातवेदो विरूपवत्– ...... ।-

अङ्गिरस्वन्महिव्रत ! प्रस्कण्वस्य श्रुधीहवम्। ”

“प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा यथैतेषामृषीणामेवं प्रस्कण्वस्य श्रणु ह्वानं । प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः कण्वप्रभवो यथा प्राग्रम् । हे जातवेदो ! महिव्रत महाकर्मन्” “महद्धि अस्य भगवतो जातवेदसः कर्म हविर्वहनलक्षणादिकं । तेनैवामन्त्र्यते महिव्रत यथैतेषामृषीणां प्रियमेधादीनांश्रुतवानासि पूर्वमाह्वानं शृणोषि वा एवं प्रस्कण्वस्य कण्वपुत्रस्यममापिश्रणुह्वानम्।” इति च तत्रदुर्गाचार्यः।

अत्रापरे पुनरेवं सङ्गिरन्ते; मन्त्रेषु य एते प्रियमेधादयः शब्दास्ते यौगिकाएव, नरूढिशब्दा ऋषीणां संज्ञारूपाः,तत्र तत्र यास्केन निरुक्तत्वात्; नहि रूढिशब्देषु निवर्चनानां काचिदस्त्यावश्यकता ।

भोः साधो ! नैवंविधेषुप्रत्ययेषु, विश्वास्यत्वमर्हसि । को नाम-प्रतिषेधति मन्त्रेषु यौगिकान् शब्दान् भवितुम् । सन्तु यौगिकाः शब्दा मन्त्रेषु, सन्तु च ते यौगिका एव, कोऽस्ति नाम प्रतिषेधयिता तेषां, परम् न केवलं यौगिका एव शब्दा वेदे सन्ति-सन्तिं तु योगरूढि-शब्दा अपीति, मुहुर्मुहू रोरुवामः । योहि स्वामिदयानन्दो वेदेषु इति-हासस्य लेशमपि न मर्षति, सोऽपि मन्त्रेषु योगरूढिशब्दान् प्रति-जानीते,किमु वक्तव्यमैतिहासिकपक्षावलम्बिनो महामहिम्नो मुने-र्यास्कस्य। अस्ति हि पाणिनीयाष्टके तृतीयाध्यायस्य तृतीये पादे उणा-दयो बहुलन्नाम सूत्रम् । अस्ति च तदुपरिभाष्ये कात्यायनमुनिकृता ‘नामचधातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोक” मित्येवमाद्या का रिका,यामवलम्ब्य स्वामिदयानन्दो मन्त्रेषु यौगिकशब्दान् योग रूढिशब्दांश्च सिद्धान्तयामास। तदेवं मन्त्रेषु न केवलं यौगिकाः शब्दा अपितु योगरूढिशब्दा अपीति निर्णयएव ।

सत्सु तु योगरूढिशब्देषु अस्त्यैतिहासिकपक्षस्याप्यवकाशः। अपिच नैवात्र केनापि विवादितव्यम्, मन्त्रेषु यौगिका एव शब्दाः सन्तीति। किम्मन्यते यास्कइत्येतावदेवात्र समालोचनीयमस्ति। पदे पदे ऋषीणां नामकीर्तनमितिहासप्रदर्शनपूर्वकंच मन्त्राणां व्याख्यानं विदधता भगवता केवलं यौगिका एव शब्दा मन्त्रेषु मता इति तु केवलम्प्रौढाम्युपगम एव भवताम्।

विश्वामित्रप्रियमेधादिशब्दानां केवलं निर्वचनादेव तु न शक्यं मन्त्रेषु शब्दानां यास्कनयेन केवलं यौगिकत्वम् प्रतिपादयितुम्। सन्ति हि शब्दा मन्त्रेषु पठिताः, मन्त्रपठितानांच प्रियमेधादिशब्दानां निर्वचनायैव च तत्र भवतो यास्कस्यायं महानुद्योगः, तस्मात् ऋषीणामितिहासान् प्रदर्श्य, पुनस्तन्निर्वचनं यास्कस्य निजकर्त्तव्यपालनमेवेति।

न केवलमेतावन्त्येव स्थानानि निरुक्ते, यानि तत्र भवतो यास्कस्यैतिहासिकपक्षाविरोधित्वप्रतिपादकानि। सन्तिहि बहून्यधुनाऽप्यवशिष्टानि, येषामन्यतमानि भवताम्प्रदर्शयितुम्प्रवर्तामहे। तद्यथा—

"तत्रेतिहासमाचक्षते। देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे-देवापिस्तपः प्रतिपेदे, ततः शन्तनो राज्ये द्वादशवर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचु र्ब्राह्मणा, अधर्मस्त्वया चरितो ज्येष्ठम्भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितं तस्मात्ते देवो न वर्षतीति। स शन्तनुर्देवापिं शशास राज्येन। तमुवाच देवापिः, पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति। तस्यैतद्वर्षकामसूक्तम्"

तस्माच्च सूक्तादुद्धृते द्वे ऋचौ भगवता यास्केन। "आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्" "यद्देवापिः शन्तनेव पुरोहित" इत्येवमाद्यौ ।

अथ च ऋषिर्नदो भवतीत्युक्त्वा, मन्त्रांशोऽयमुद्धृतो यास्केन, 'नदस्य मारुधतः काम आगन्' इति, अस्मिन् मन्त्रे लोपामुद्रा शब्दोऽपि पठितोऽस्ति। अत्रत्ये स्वामिकृतेऽर्थे नास्त्यैतिह्यस्य गन्धलेशोऽपि, परं यास्कः लोपामुद्रापदेनैव सस्मार रामायणे प्रथितकीर्त्तेर्महामुनेरगस्त्यस्य, अतएव व्याख्यावसरे इत्थमवादीत्—यत्—

"नदनस्य मारुधतः काम आगमत्संरुद्धप्रजनस्य ब्रह्मचारिण" इति ऋषिं पुत्र्याःविलपितं वेदयन्ते । ऋषिपुत्र्या लोपामुद्राया इति च तत्र वृत्तिकारो दुर्गाचार्यः ।

तदित्थमद्यावधि प्रयतितमस्माभिर्यास्कस्यैतिहासिकपक्षाविरोधित्व प्रतिपादनाय ।

वस्तुतस्तु यथा ऽऽचार्यशङ्करस्य मायावादजालेनावृतानां ब्राह्मसूत्राणां तात्पर्यं दुरवबोधम् ; यथा वा सर्ववेदभाष्यकर्त्तुः पौराणिकपरिवृढस्य सायणाचार्यस्य पौराणिकगाथावर्णनपुरस्सरं वेदभाष्येण तिमिरेणेवाच्छन्नाः सन्ति सर्वेऽपि वेदाः, एवमेव भगवतो यास्कस्य व्यूतिरचनाः न खलु कस्यापि वैदिकस्याध्येतुः सौकर्येण अवितथवेदार्थप्रकाशनायालम् । तस्मादेष यास्काचार्यो वैदिक शब्दनिर्वचनमार्गप्रदर्शकत्वाद् बहुमानपात्रमपि, कौत्सप्रभृतिनास्तिकानां वाचोयुक्तीनां समूलमुन्मूलनात् प्रशंसार्होऽपि, वैदिकवेदार्थेषु सर्वथाप्युपेक्षणीय एव सुधीभिरिति वार्त्ततरन्नः प्रतिभाति ।

अथैष प्रवर्त्त्यते विचारः; किं वेदः पौरुषेय उतापौरुषेयस्तथा पौरुषेयत्वेऽपि कीदृशः पुरुषो यास्कस्याभिमतइति ? जगत्यां गतं को

न वेद स्वामिनो मतं, वेदः पौरुषेयः, पुरुषश्च परमात्मेति । प्रायः सर्वेषु ग्रन्थेषूद्घोषितमेव स्वामिना स्वकीयमेतन्मतं । परं यास्कस्य मतं यास्कवचनेभ्य एव स्थिरीकर्त्तुं निरूपयितुं वा साम्प्रतं प्रवर्त्तामहे ।

सन्ति हि बहूनि स्थलानि महर्षिग्रन्थेषु—यत्र तेन स्पष्टमेव वेदानामीश्वरकर्तृकत्वम्प्रबलतरयुक्तिभिः साधितम् । "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" तथा "यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्" इत्येवमादिमन्त्राणां व्याख्यां विदधता स्पष्टमेव ईश्वरकर्तृकः स्वामिना मतो वेदः । परं यास्कीय निरुक्ते नास्त्येकमपि स्थलम्, नचापि यास्केन एकोऽपि मन्त्रो निरुक्ते प्रदर्शितो, येन हि यास्कस्यापि ईश्वरकर्तृकत्वमेव वेदस्य स्वीकृतम्प्रतीयेत ।

सन्ति तु बहूनि स्थलानि, यत्र यास्क ऋषिकृतत्वं वेदस्य स्वीकृतवान् प्रतीयते ।

प्रदर्शितचरोऽयं मन्त्रः । "प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् । आङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ।" अत्र स्पष्टमेवोक्तं यास्केन । "हे जातवेदः ! यथा प्रियमेधस्य अत्रेः विरूपस्य अङ्गिरसश्च ऋषीणामाह्वानं शृणोषि तथैव मम कण्वपुत्रस्य प्रस्कण्वस्यापि शृणु आह्वानम् ।"

यास्कनयेन एष मंत्रो जातवेदसम्प्रति प्रस्कण्वस्याह्वानरूपः ! यदि हि यास्को वेदस्य परमात्मकर्तृकत्वममंस्यत, कथं नाम स एवमवक्ष्यत । महद्धि प्रामाण्यं वेदस्य ऋषिकृतत्वस्वीकारे निरुक्तकृतो यदयं क्वचिदपि ग्रन्थे वेदस्य परमात्मकर्तृकत्वं नोक्तवान् तथा ऋषीणामुक्तिप्रत्युक्त्याह्वानरूपेण मन्त्रान् व्याख्यातवान् ।

"वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव, तं मण्डूका अन्वमोदन्त स मण्डूकाननुमोदमानान्दृष्ट्वा तुष्टाव तदभिवादिन्येषर्गभवति ।

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमावदतादुरि ।

मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥"

इत्थमाह यास्कः । ततश्च व्यक्तम्प्रतीयते यदेष निरुक्तकारः काले काले ऋषिभिः प्रोक्तानामृचां सङ्ग्रहमात्रमेव वेदं मनुते स्म इति । "विश्वामित्रः कारुः कर्त्ता स्तोमानाम् । कुत्सः ऋषिः कर्त्ता स्तोमाना" मित्येवमाद्या उक्तयोऽप्यत्र विषये मानमेव ।

अपि च, निरुक्ते स्पष्टमेवोपलभ्यते वचनं, येनहि ऋषि वचनानां सङ्ग्रहमात्रमेव वेदं यास्को मनुते इति व्यक्तं विज्ञायते,

तथा हि—"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्यः असाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे विल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः—वेदञ्च, वेदाङ्गानि चेति ।"

'यदि ह्येतद्यास्कवाक्यं विव्रियेत' तर्हि एषोऽर्थः सम्पद्यते । यत्संसरति संसृतिचक्रे न ज्ञायते कदा, जात्वपि साक्षात्कृतधर्माण ऋषयोबभूवुः । कःपुनर्ऋषिः इत्यत्राह यास्कः, "ऋषिर्दर्शनात्" पश्यति ह्यसौ सूक्ष्मानर्थानिति च तत्र दुर्गाचार्यः । तदित्थं धर्मादिसूक्ष्म तमार्थानां द्रष्टार ऋषय इतिस्थितम् । अवश्यञ्च सूक्ष्मतमानर्थान् साक्षात्कुर्वतामृषीणां चेतस्सु विचारा समुत्पद्यन्ते । विचारा एव च मन्त्राः । मन्त्रा मननादिति यास्कोक्तेः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन वाङ्मात्रोच्चरणेन मन्त्रान् स्वविचारान् सम्प्रादुः । मन्त्राः विचारा एव—आह हि भगवा

निरुक्तकृत्,मन्त्राः मननात्। "मन्त्रामताहितेऽवरऋषिभिः, मननहेतुर्मन्त्रः" ततश्च ते साक्षत्कृतधर्माण ऋषयोऽवरेभ्यो वाङ्मात्रेणैव स्वविचारान् सम्प्रदत्तवन्तइत्येवाभियुक्तो निष्पन्नोर्थः ।

"परं यदा कालवशात् शक्तिवैकल्याद्विस्मरणशीलत्वाद्वा केवलमुपदेशमात्रेण न शेकुरन्तेवासिनस्तत्त्वं गृहीतुम् आचार्या वा तत्वं ग्राहयितुम्, तदा उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरेबिल्मग्रहणाय इमं निघण्टुग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदञ्च समाम्नासिषुः वेदाङ्गानि च समाम्नासिषुः इति।"

स्पष्टमेव चास्माद्वचनात्प्रतीयते, यन्मन्त्रा प्रतिभासम्पन्नानां कृतब्रह्मचर्य्यणामृषीणां विचारात्मकाएव । ते च ऋषयः पूर्वमुपदेशमात्रेणैव स्वविचारान् निजशिष्येभ्यः प्रदत्तवन्तः। परं कालवशादन्तेवासिनो न शेकुः सामञ्जस्येन ग्रहीतुमर्थं केवलमुपदेशमात्रेण । ततश्च ऋषिभिः काचिल्लिपिः सम्पादिता यद्द्वारेण स्वविचारान् लिखित्वा लेखयित्वा च स्वशिष्यानध्यापितुं ते प्रारभन्त इति । तदित्थं प्रदर्शितमस्माभिर्यास्कनयेन वेदस्य पौरुषेत्वम्; पुरुषाश्च ऋषय इति ।

अथैतद्विचार्यते । किं यास्कनयेन मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोर्वेदत्वम्? उत मन्त्राणामेव, ब्राह्मणानामेव, वा ? सन्ति हि अत्र त्रयः पक्षाः पूर्वैराचार्यैः समुपस्थापिताः । तथा च वेदस्वरूपवचनावसरे "मन्त्रब्राह्मणमित्याहुरिति बोधायनः"। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम धेय"मितियज्ञपरिभाषायामापस्तम्बः, मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेद इति सायणाचार्यः"मन्त्र ब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः"इति षड्गुरुशिष्यः

अपरे पुनराधुनिकाः ब्राह्मणमेव मुख्यं वेदमाहु, तत्र तत्र ब्राह्मणेषु य एवं वेदेति दर्शनात् ।

'औपचारिकश्च मन्त्रेषु वेदशब्दः'

महामहिमा श्रीस्वामिदयानन्दस्तुमन्त्रात्मकमेव शब्दराशिं वेदमाह ।

तथाहि—ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकायां ।

"अथकोऽयं वेदोनाम ? मन्त्रभागसंहितेत्याह । किञ्च मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कात्यायनोक्ते । ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियते इति मैवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेद सञ्ज्ञा भवितुमर्हतीति ।"

एष पुनराचार्ययास्कोऽपि स्वामिमतानुकूल एव प्रतीयते । यत्र तत्र मन्त्र प्रकरणे एव वेदशब्दस्य पाठात् ।

उपलब्धो हि मया त्रिषु स्थलेषु निरुक्ते वेद शब्दपाठः, तद्यथा "पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ।"

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा इति मन्त्रव्याख्यावसरे चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एते ।"

तथा "उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानिचेति ।"

आद्योदाहरणयोः स्पष्ट एव वेदशब्दो मन्त्रसंघातपरः तृतीयोदाहरणे तु विप्रतिपत्तिरस्ति विदुषाम् ।

तथा हि बङ्गमण्डलमण्डनः पण्डितप्रकाण्डः श्रीसत्यव्रत सामगो वेद शब्देन ब्राह्मणञ्जग्राह ।

यथाह निरुक्तालोचने—

"यतोऽत्र मन्त्रान् सम्प्रादुरिति कथनानन्तरं पुनरुक्तं वेदञ्च, इति अतो ज्ञायते नेह वेदशब्देन मन्त्राणां वोधोऽपितु तदतिरिक्त भागानां ब्राह्मणानामेव इति।"

तदेतन्नोपपद्यते प्रामाणाभावात्।

आचार्यदुर्गेण, वैदिकाचार्यदयानन्देन च स्वस्वव्याख्यायां मन्त्रत्वेन स्वीकारात्।

अपि च नैतावतैव हेतुनाऽत्रत्यो वेदशब्दो मन्त्रान्विहाय ब्राह्मणानि वोधयितुं शक्नुयात्।

अत्र वाक्ये प्रयोजनभेदेन उभयोर्मन्त्रवेदशब्दयोः पाठात्।

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयोऽवरेभ्य ऋषिभ्यउपदेशेन मन्त्रान् निजविचारान्सम्प्रादुः, अथ च महता कालेन केवलमुपदेशमात्रतोऽर्थ ग्रहणस्यं दुःशकत्वात्पुस्तक रूपेण वेद संज्ञाकन्तमेवविस्तृतं विकीर्णञ्च मन्त्रराशिं ऋषयः सञ्जग्रहुः इति पूर्वमेव प्रति पादितमस्माभिः।

तस्मात्सिद्धं यास्कनयेऽपि केवलं मन्त्रराशेरेव वेदत्वम्।

अथायमपरो विचारोऽवशिष्यते। मन्त्रेषु देवतास्वरूपविनिर्णयो नाम।

सभ्याः! नात्र किञ्चिद्बहु वक्तव्यमस्ति।

नास्ति कश्चिद्विशिष्टो भेदोत्रविषये यास्कदयानन्दयोः। स्वामिदयानन्देन स्वपक्षस्थापनाय तत्पोषणाय च यत्र तत्र दैवत-प्रकरणवर्त्तिनां यास्कीयवचनानामेवोद्धृतत्वात्।

अवश्यं लक्ष्यते तु स्वल्पो भेदः परस्परम्, तेषामेव वचनानामाचार्यदुर्गस्याचार्यस्यदयानन्दस्य च व्याख्याभेदात् ।

परं यास्कीयवचनान्येवोद्धृत्य व्याचख्यौ दयानन्दः स्वामी । तस्मादभिन्नमेवोभयोर्मतमाकलय्य नात्र बहु खेदितुं काङ्क्षामहे पारिषद्यान् ।

सभ्याः ! निरुक्तवर्तिनः प्रधानविषया उभय-पक्ष समाकलनेन यथाशक्ति समालोचिता एव । इदानीमप्यवशिष्यन्ते भूयांसो विषयाः यथा—किमयं यास्क ईश्वर वादी नवा ?

मूर्तिपूजामांसभक्षणश्राद्धादीन् स्वीकुरुते न वेत्येवमादयः ?

परमत्र निबन्धके न खलु निखिला अपि विषया निश्शेषतः शक्याः पर्यालोचितुमित्युक्तं पुरस्तात्, तस्मादिदानीं केवलं निगमनमेवाद्याप्यवशिष्यते ।

अत्र मया यास्कमतेन वेदानामस्यैव लोकस्य हिताय प्रवृत्ति र्न पुनर्निखिलब्रह्माण्डस्येति प्रतिपादितम् । यास्कीया वेद मन्त्र व्याख्याऽपि न खलु दूषणहीना । अपितु प्रतीयन्ते दूषणान्यपि ।

आर्य सामाजिकाँस्तु विशिष्य नेयमुपकर्तुं समर्था, यत्र तत्र बहुत्रैतिहासिकपक्षावलम्बनात्, दर्शिताश्च सविस्तरमितिहासा यास्कीय व्याख्यायाम् । यास्क-नये वेदस्य पौरुषेयत्वं पुरुषाश्च ऋषय इति स्पष्टमभिहितम् ।

वेद शब्देन मन्त्रराशिरेव यास्कस्याभिमत इति साधितम् । अन्ततश्च देवतास्वरूपे यास्क दयानन्दयोर्मतैक्यम्प्रातिज्ञातम् ।

तदिदानीं भगवतो यास्कस्य कृते मूर्ध्नि परां कृतज्ञतामावहन्तो वयं श्रीवाचस्पतिमिश्रप्रणीतेन, तथाऽपि विपरिणतेन पद्येन निबन्धमुपसंहरामः ।

सभ्याः कृतोऽञ्जलिरयं बलिरेष दत्तः,
कायः कृतः प्रहरतात्र यथाभिलाषम् ।
अभ्यर्थये परुषवाङ्मयपांसुवर्षैः,
मामाविलीकुरुत सूक्ति नदीःपरेषाम् ।

इति ।

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

विवादः

पठितवति निबन्धन्निबन्धकर्तरि ।

(१) ब्रह्मचारिविश्वनाथस्तं समालोचयितुमुदातिष्ठत् । स इत्थमाचष्ट, यद्यपि मम निबन्धकर्तुश्च निरुक्तविषयकस्मतन्न भिद्यते, तथाप्यवान्तरविषयेष्वस्ति मतभेद इतिकृत्वा मया ते समालोच्यन्ते । कर्तास्तोमानामित्यौपमन्यव इति यास्कवाक्याद्यदेतद्भ्रान्तितन्निबन्धकर्त्रा यद्दषिकृतत्वं वेदानां यास्काभिप्रेतन्न तत्समञ्जसं तत्रोपमन्यवाचार्यस्यैव मतप्रतिपादनात् । साक्षात्कृतधर्माण इति वाक्येऽपि वेदशब्देन न मन्त्रभागो ग्राह्योऽपितु ब्राह्मणान्येव, एवमेव यत्र यत्र तेनेतिहासिकम्मतमुक्तन्नतत्स्वयिमापित्वैतिहासिकानामेव शब्दाश्चसर्वे यौगिका न योगरूढ़ाः, इत्यतः प्रियमेधादिशब्दानान्ननामत्वम् ।

(२) तदनु पं० रलाराम शास्त्री 'इमम्मे गङ्गे यमुने' इत्यादावुद्भाविता शङ्काङ्गङ्गादीनान्नाडीत्वप्रदर्शनेनापनुदन् एकस्य चन्द्ररश्मेरखिलचन्द्रमण्डलद्योतकत्वं रश्मिशब्दस्य जातिपरत्वादपहरन् 'वित्तम्मे अस्य रोदसी' इत्यादिमन्त्रस्य त्रितशब्दविद्याव्रतस्नातकमभिमत्य कूपशब्देन संसारकूपमादाय देवशब्देन वस्यर्थङ्गृहीत्वा सङ्गतिम्प्रदर्शयन् शिष्यशब्देन धौतवस्त्रग्रहङ्णकृत्वेतिहासपरमर्थमखण्डयत् ।

(३) तदनु पं० शालिग्राम शास्त्री निरुक्तोक्तमविस्पष्टतादोषं नैषस्थणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीति नीत्या परिजहार ।

सोऽवोचत्- न च निरुक्तकृता वेदार्थान्विधाय तदियत्ता कृता यन्ना-
परोऽर्थः सम्भवतीति । परमन्येऽप्यर्थाः सम्भवन्तीत्येव समञ्जसम् ।
एकोरश्मिश्चन्द्रमसन्दीपयतीतिकेवलमुक्तमेव न तु तत्स्फुटीकृतम्
निबन्धकर्त्रा ।

(४) ततो ब्र० भरद्वाजो निबन्धमुद्दिश्य किमप्यवोचत्-
सोऽवोचत् स्वामिदयानन्देन निघण्टुनिरुक्तयो वेदाङ्गत्वेन स्वीकारा-
न्निरुक्तस्वीकार एव श्रेयान्नतु त्यागः । यच्चकथमेको रश्मिश्चन्द्र-
मसन्द्योतयतीति शङ्कितन्तदप्यसारं, चन्द्रमसद्योतकानामनेकेषां रश्मी-
णां सुषुम्नाऽख्याभिधेयत्वात् । त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाइत्यादौ-
स्फुटमेव इत्यैतिहासिका इत्युक्त्वोपेक्ष्य च तत्पक्षं पक्षान्तरव्यव-
स्थापनात् नैरुक्तपक्षस्यैतिहासिकाभिन्नता प्रतीयते । यच्चापिशन्तनु
देवाप्योर्विषये प्रोक्तन्तत्रापिदेवापि शब्देनाग्निग्रहणात् शन्तनु शब्देन
च यजमानग्रहणाददोषः ।

(५) तदुत्तरं पं० रामचन्द्र : केवलं वेदानाङ्कार्य्यत्वन्नि-
षिध्यतदीशप्रकाश्यताम्प्रत्यपीपदत् ।

(६) ततः पं० मेलाराम शास्त्री समीक्षणम्प्रारब्धवान् स-
निबन्धे संस्कृतभाषाया उत्तमत्वम्परदोषपरिहारं, यास्क दयानन्दयो
स्तुलनाचातुर्य्यमिति गुण त्रितयमभिहितवान् । परं सोऽन्यदप्यु-
क्तवान् यत्स्वार्थेन कथमपि भवत्याख्यायिकानान्तात्पर्य्यमिति शावर-
मतम् । तथा चासाङ्कथानान्न स्वार्थे तात्पर्य्यमपि तु कस्यचिदर्थस्य
प्रदर्शनएव ।

(७) तदनु पं० आर्य्यमुनिः समालोचनार्थमुदिष्ठत् । सो-
ऽवोचत् श्रीमता स्वामिदयानन्देन बहुवर्षेष्विदमनुभवमवाप्य यो ग्रन्थो

वेदांगतया प्रमाणतया चाभ्यधायि तस्यैवानुपादेयता ब्रह्मचारिणा प्रोच्यते इति महद्वैषम्यम् । वस्तुतस्तु निरुक्तशैल्याः नवीनत्वान्निरुक्तपक्षे यास्कीयस्योपादेयत्वमेव । हेयत्वञ्चान्यत्र । यत्तु निबन्ध कर्त्रा रमध्वम्मेवचसे इत्यादि मन्त्रे निरुक्त कृता नद्यासह मुनिसंलापोऽभिहितस्सनयुक्त इत्युक्तन्तदसमञ्जसम्- 'भीषास्माद्वातः पवते ' इत्यादौ यथा वाते भयकल्पना तथाऽपि नद्यामालापकल्पना नत्वस्त्यत्र कोऽपि वास्तविकालापः ।

(८) ततःपण्डित पूर्णानन्दः निरुक्ते आध्यात्मिकपदपाठात्प्रतीयते यास्कईश्वरवादीति प्रत्यपीपदत् ।

(९) ततः पण्डितोखिलानन्दो निबन्धकृता सह स्वीयामनुमातिमेव व्याजहार ।

(१०) ततो ब्र०इन्द्रः यत्परः शब्दः सशब्दार्थ इतिन्यायानुसारन्निरुक्तिपरीनिरुक्तं स्वकृत्ये एवोपादेयन्नान्यत्र । अतएवयास्कीयो निरुक्तिप्रकारोऽङ्गीकृतो महर्षिणा । अन्यत्रचोपेक्ष्यमेवनिरुक्तम् । इत्युपपादयामास । सोऽन्यदप्ययूयजत । तथाहि-निबन्धकृता यानि दूषणानि प्रदत्तानि तानित्व दूषणान्येव । अविस्पष्टतायाः पुरुषापेक्षत्वात् , अश्लीलताया वेदाभिप्रायविरुद्धत्वे सत्येव दूषणत्वात् अमहत्त्वप्रतिपादकत्वस्यासत्यत्वात्केवलमितितिहासप्रतिपादकत्वमेवदूषणमवशिष्यते । तदपि यास्कस्य वेदानीश्वरकर्तृत्वप्रतिज्ञा मूलकमेवातस्तात्तत्रांशेऽस्मन्मतानुकूलतान्नोपयातिनिरुक्तम् ।

(११) ततः पं० ब्रजभूषण उदतिष्ठत् । सोऽवोचत अश्लीलतादि दोषार्पिताये निरुक्तांशा निबन्धकेन प्रकाशितास्ते तावन्मया वैज्ञानिकार्थप्रतिपादका मन्यन्ते तथैव सङ्गमप्यन्ते च। न च यास्कोऽनीश्वरवादी देवता काण्डे विश्वकर्म्म सूक्ते सर्वथेश्वरविधानात्

(१२) ततो ब्र ० हरिश्चन्द्रः निरुक्तार्था स्वामिदयानन्द मतविरुद्धा इत्येतदेवप्रतिपादितन्निबन्धकृता तच्च प्रतिपादितमेव-स्वामिकृतवेदार्थस्य निरुक्तकृतवेदार्थस्य च वहुत्रविरोधात् ।

ततो निबन्धकर्त्ता प्रत्युत्तरदानाय प्रोदतिष्ठत् स इत्थमाचष्ट—

(प्रत्युत्तरम्)

"अभिनन्देऽहं सर्वानपिसमालोचकान्यैः सदयं विचारो व्यधायि मत्कृतनिबन्धस्योपरि नाहं निरुक्तस्य हेयत्वम्मन्ये सर्वथापरं वेदविरुद्धांशएव । यास्कीयो निरुक्तिप्रकारोऽपि न सर्वथा निर्दोषः-परन्तु तथापि न हेयः-किञ्चिदंशेन ग्राह्य एव। यत्तु एको रश्मिश्चन्द्रमसङ्कथन्दीपयतीतिप्रश्न एक शब्दः स्वल्पवाचक इत्युक्तन्तन्न कोशग्रन्थेष्वनुपलम्भात । अन्येपि येर्थाः कैश्चित्कल्पिता वेदमन्त्राणान्ते मयोऽपेक्षणीयास्तेषामप्यर्थानां सम्भवात्—परम्मया तु महर्षिवेदार्थभिन्नता यास्कीयवेदार्थस्य प्रतिपाद्यते न मन्त्रार्था दूष्यते । यद्यप्यैतिहासिकः पक्षो न यास्केन कण्ठतः स्वीकृतस्तथाप्यखण्डितत्वात्तत्पक्षस्य स न निरुक्तकृताऽनभिमतः ।"

तदनु सभापतिरित्थन्न्यगमयत्—

(सभापतेर्वक्तृता)

मनुष्यस्य सदोषत्वाद्यास्कस्य च मनुष्यवाक्त्वाद्यास्कीयन्निरुक्तमपिन निर्दोषमतएव च न सर्वांश उपादेयम् । तथा—यास्केन गङ्गायमुनादि शब्द व्याख्याने वेदेष्वितिहासस्वीकारः कृत इति वैदिकमतविरुद्धमेतत् । नापि पाठप्रणाल्यां स्थापनादेवास्य प्रमाणपमन्यीनरुक्तानुपलम्भादेवास्य पाठ्यत्वेन स्वीकारत् ।

पुरुषकृतत्वन्नास्ति वेदानामनित्यत्वापत्तेरिति यत्कोऽपि, तथान वेदानाम्प्रवाहेणानादित्वस्वीकारात् यथा प्रवाहेणानाद्यपि जगदनित्यन्तथावेदोऽपि। अर्थवादानां स्वार्थे न तात्पर्य्यमिति मीमांसावाक्यमप्यर्थवादविषयकत्वादितिहासाविषयकन्न यदप्युक्तन्निरुक्तिप्रकारज्ञानायावश्यं यास्कीयमादेयमिति—तदपि न ब्रह्मणादिष्वपि निरुक्तिप्रकारोपलम्भात् वेदादेवापि च वेदार्थो ज्ञातुंशक्यः । कथमन्यथा निरुक्तकारेण वेदार्थोऽज्ञायि । वेदनिर्वचनपरत्वाद्यास्कस्यानीश्वरवादित्वकल्पनमनुचितम् । ईश्वरवादित्वेऽपि निरुक्तो नवेदमीश्वरकृतम्मन्यत इत्यन्यत् ।

इतिशम् ।

ओ३म्

तृतीय दिन की कार्य्यवाही

सब सज्जनों के उपस्थित होने पर, साहित्य परिषद् के मन्त्री ने यह सूचना दी कि यद्यपि मुद्रित समय विभागों में इस सम्मेलन के आज के सामयिक सभापति श्री डा० चिरञ्जीव जी प्रसिद्ध किये गये थे, तथापि उन्होंने किन्हीं कारणों से प्रधान बनने से इन्कार कर दिया है, और आशा प्रकट की कि सब सज्जन स्वयमेव किसी योग्य पुरुष को अपना सभापति चुन लेंगे। तत्पश्चात् पं० पूर्णानन्द जी के प्रस्ताव तथा स्वामी सत्यानन्द जी के अनुमोदन से श्रीमान् महात्मा मुन्शी रामजी सभापति चुने गये।

महात्मा जी ने सभापति पद को स्वीकार करते हुवे सब से प्रथम यह कथन किया, कि यद्यपि मैं इस समय बिल्कुल सभापति पदवी के लिये तय्यार नहीं हूं, तथापि क्योंकि मुझे सभा ने इस कर्त्तव्य के पालन की आज्ञा दी है इस लिये मैं उस का सर्वथा पालन करूंगा। मैं इस समय केवल प्रबन्धार्थ ही सभापति होता हूं—विषय के निगमनार्थ नहीं—विषय का निगमन मुझे पूरी आशा है कि निबन्धलेखक स्वयं कर देंगे। आज के निबन्धलेखक आर्य्य समाज के उन रत्नों में से हैं जो कि स्वयम् बलात् आगे नहीं बढ़ते—जो समय के उपस्थित हुवे बिना कार्य्य में अग्रेसर होना

पसन्द नहीं करते । आप बड़े विद्वान् हैं । अब मैं पण्डित घासी राम जी एम. ए. प्लीडर मेरठ से प्रार्थना करता हूं कि वे अपना निबन्ध सभा के सन्मुख सुनाकर हमें आनन्दित करें ।

तत्पश्चात् पं० घासी राम एम. ए. ने अपना निम्न लिखित निबन्ध सुनाया ।

वर्णव्यवस्था और सोशलिज़्म

सभापति महोदय ! और सभ्य पुरुषो ! जब हम यह कहते हैं कि-मनुष्य, समाज वा समूह में रहता है तो उस का यह अर्थ होता है कि मनुष्य का यह स्वाभाविक गुण है कि वह अपने सरीखे दूसरे मनुष्यों के साथ मिलकर रहे, अर्थात् मनुष्य अपनी पूरी उन्नति समाज में रह कर ही कर सकता है, उस की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का पूर्ण विकाश समाज में ही हो सकता है उस के जीवनोद्देश्य का पूरा होना समाज द्वारा ही सम्भव है-इस से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को समाज में रह कर इस प्रकार वर्तना चाहिये, जिस से वह अन्य व्यक्तियों की उन्नति में बाधक न हो । उस का कोई विचार, वचन और कर्म ऐसा नहीं होना चाहिये जिस से दूसरों के अहित होने की सम्भावना हो-उस के सम्पूर्ण कार्य्यों का केन्द्र समाज की उन्नति होना चाहिये अर्थात् व्यक्ति का जीवन समाज के जीवन के अन्तर्गत होना

चाहिये–इस प्रकार समाज का लाभ उस के प्रत्येक व्यक्ति का लाभ और समाज की हानि प्रत्येक व्यक्ति की हानि हो जाती है। और यह मनुष्य का सब से बड़ा स्वार्थ हो जाता है कि अपने समाज को उन्नत दशा में रखने के लिये शक्ति भर यत्न करे, क्योंकि जब तक ऐसा न होगा किसी व्यक्ति को अपनी उन्नति करने का सुअवसर न मिल सकेगा और कोई निर्भयता पूर्वक अपनी उन्नति करने में न लग सकेगा। अतः यह स्पष्ट है कि समाज और व्यक्तियों का सम्बन्ध बड़ा गहरा सम्बन्ध है–समाज व्यक्तियों का ऐसा समूह नहीं है जैसा एक पत्थरों का समूह होता है जिस में एक पत्थर का दूसरे पत्थरों से गाढ़ सम्बन्ध नहीं होता। हम एक पत्थर को एक जगह से उठा कर दूसरी जगह रख सकते हैं परन्तु फिर भी वह पत्थरों का समूह ही रहता है यदि हम उसमें से दस बीस पत्थर निकाल लें वा और स्थान से लाकर उस में रख दें तो भी उसके प्रस्तर समूह होने में बाधा नहीं पड़ती-परन्तु यह दशा घड़ी की नहीं है। घड़ी भी एक समूह है परन्तु उस से गहरे अर्थ में जिस में पत्थरों का ढेर समूह है·घड़ी के एक पुर्ज़े को हम उसके स्थान से हटाकर दूसरे पुर्ज़े के स्थान में नहीं रख सकते, न एक पुर्ज़ा कम वा अधिक कर सकते हैं। अर्थात् घड़ी का हर एक पुर्ज़ा दूसरे पुर्ज़ों से एक अटूट सम्बन्ध रखता है, जिस में अन्तर पड़ने से घड़ी का घड़ीत्व नष्ट हो जाता है-प्रत्येक पुर्ज़ा अपना

काम करता है, और अपने काम से दूसरे पुर्ज़ों के काम में सहायक होता है। वृक्ष वा पशु के शरीर में यह अङ्ग प्रत्यङ्ग सम्बन्ध और भी गहरा हो जाता है-घड़ी के पुर्ज़े जैसे घड़ीकार ने बना दिये वैसे ही रहते हैं वे अपने में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, परन्तु वृक्ष का प्रत्येक अङ्ग वृद्धि को प्राप्त होता है। न केवल स्वयम् बढ़ता है किन्तु उसके साथ सम्पूर्ण वृक्ष भी बढ़ता है, और यही नहीं कि प्रत्येक अङ्ग पहिले की अपेक्षा अधिक लम्बा चौड़ा भारी आदि हो जावे किन्तु उसके भीतर अधिक कार्य्य करने की शक्ति हो जाती है, और वह उस कार्य्य को पूर्वापेक्षा उत्तमता और सुगमता से कर सकता है, और यह शक्ति केवल अधिक लम्बाई चौड़ाई भारीपन का परिणाम नहीं होती किन्तु उसकी भीतरी बनावट में परिवर्तन हो जाने का परिणाम होता है—अर्थात् वृक्ष का अङ्ग वृद्धि के साथ २ उन्नत भी होता जाता है—दूसरा विशेष अन्तर यह है कि पत्थरों के ढेर में वृद्धि तब ही हो सकती है जब हम उस में बाहर से और पत्थर लाकर रख दें परन्तु वृक्ष में वृद्धि भीतर से होती है। वह बाहर से भोजन को ग्रहण करके उसको अपने शरीर में परिणत करता है-यदि आप मनुष्य देह का वृक्ष वा पशु शरीर से मिलान करेंगे तो उस में इतना और विशेष पायेंगे कि मनुष्य जान बूझ कर अपने शरीरावयवों को वर्धित और उन्नत कर सकता है—

वृक्ष में चेतनता का प्रादुर्भाव ही नहीं होता, और पशु में उसका पूर्ण प्रकाश नहीं होता। परन्तु मनुष्य में वह पूर्णतया आविष्कृत हो जाती है अब यदि यह कहा जावे कि मनुष्य समाज के व्यक्तियों में भी ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा मनुष्य शरीर के अङ्गों में तो आप को विदित होगा कि वह कितना प्रबल गाढ़ा और गहरा है, और आप को वेद के उस प्रख्यात मन्त्र का गौरव भी भली प्रकार समझ में आवेगा जिस में ब्राह्मण को मनुष्य समाज का मुख, क्षत्रिय को उस की भुजा, वैश्य को उस का उरू और शूद्र को उस का पैर बतलाया गया है। जैसे हमारे देह में भिन्न २ अङ्ग हैं, समाज रूपी पुरुष के देह में ब्राह्मणादि अङ्ग हैं। जैसे हमारे अङ्ग आंख, कानादि अपना २ काम करते हैं, वैसे ही ब्राह्मणादि के कार्य्य पृथक २ हैं। परन्तु जैसे आंखादि अङ्ग अपना कार्य्य करते हुए एक दूसरे की सहायता करते हुए सम्पूर्ण देह को अच्छी दशा में रखते हैं वैसे ही ब्राह्मणादि भी अपना कर्तव्य पालन करते हुए सम्पूर्ण समाज को उन्नत रखने में सहायक होते हैं—और जैसे हमारे एक अङ्ग को हानि वा पीड़ा पहुंचने से सम्पूर्ण देह को क्षति और दुःख होता है ऐसे ही एक व्यक्ति वा वर्ण की हानि और पीड़ा से सम्पूर्ण समाज को क्षति और दुःख होता है। जैसे वही देह स्वस्थ कहला सकता है जिसका प्रत्येक अङ्ग स्वस्थ हो, वैसे ही वही समाज उन्नत कहला सकता

है जिस में प्रत्येक व्यक्ति उन्नत दशा में हो। और जैसे अङ्गगत रोग से सारा शरीर रुग्ण हो जाता है, वैसे ही व्यक्तिगत दोष से सम्पूर्ण समाज दूषित ठहरता है। जैसे प्रत्येक अङ्ग का अपना २ कार्य्य, दूसरे अङ्गों के कार्य्य में बाधा डाले और उनका भोजन छीने बिना करना देह के कल्याण के लिये आवश्यक है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार कार्य्य करना आवश्यक है जिस से दूसरे व्यक्तियों के कार्य्य और उन्नति के साधनों में विघ्न न पड़े—परन्तु जहां प्रत्येक व्यक्ति के विचार, वचन, और कर्म, का अन्तिम लक्ष्य समाज की उन्नति होना चाहिये वहां समाज का भी परम कर्तव्य है कि अपने व्यक्तियों को उन्नत दशा में रक्खे—वही समाज सर्व श्रेष्ठ है जिस में प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीरावयवों को अनायास से ही वर्धित, परिपक्व, दृढ़ और नीरोग रखने का अवसर प्राप्त हो। जिस में उसे अपनी मानसिक शक्तियों को बढ़ाने और उन के विकाश का अवकाश मिले, जिस में उसे आत्मोन्नति के साधन स्वल्प कष्ट से ही हस्तगत हो सकें, जिस में उसे सुख सामग्री के उपार्जन और दुःख निवारण करने के उपाय सुलभ हों। अर्थात् समाज का संगठन ऐसा होना चाहिये कि उस में प्रत्येक व्यक्ति दूसरों का सहायक हो कोई किसी की उन्नति में बाधक न हो-और सब व्यक्तियों का कार्य्यविभाग इस प्रकार होना चाहिये

कि प्रत्येक व्यक्ति का कार्य्य उस की प्रकृति के अनुकूल हो, जिस से वह उसको उत्तम रीति से कर सके, और अपनी उन्नति करता हुआ समाज का हित सम्पादन कर सके। कोई व्यक्ति दूसरों का वा समाज का अनिष्ट न कर सके-आप को विचार करने से यह भी प्रगट हो जायगा कि जो बातें मनुष्य जीवन के लिये आवश्यक हैं, वही बातें समाज के जीवन के लिये भी आवश्यक हैं। जैसे मनुष्य के जीवित रहने के लिये यह परमावश्यक है कि उसको भोजन समय पर, पर्य्याप्त, अनुकूल और स्वल्प परिश्रम से मिले, और उस की जठराग्नि ऐसी तीव्र हो कि भोजन को पचा कर रस में परिणत करके सम्पूर्ण शरीर का पोषण कर सके, ऐसे ही समाज के जीवित रहने के लिये यह परमावश्यक है कि उसके प्रत्येक व्यक्ति को पेट भर स्वच्छ और पुष्टि कारक भोजन विना भारी कष्ट उठाए मिल सके और प्रत्येक व्यक्ति का स्वास्थ्य ऐसा हो कि भोजन को पचाकर बल और नीरोगता प्राप्त कर सके-अर्थात् समाज को पर्य्याप्त भोजन सामग्री के उत्पन्न, संग्रह और विभाग करने के ऐसे उपाय करने चाहियें कि उसके किसी व्यक्ति को आवश्यकतानुसार भोजन प्राप्त करने में कष्ट न हो-समाज को स्वास्थ्य रक्षा के ऐसे नियम बनाने चाहियें, जिन से उस के व्यक्ति भोजन को पचाकर पुष्ट और बलिष्ट रहें। यदि उसके व्यक्तियों को भोजन प्राप्ति में अधिक

यत्न करना पड़ेगा, तो उनको आत्मिक उन्नति करने और अपने हित के नये २ साधन सोचने का समय नहीं मिलेगा। यदि वे नीरोग न होंगे तो भोजन सामग्री के सुलभ होते हुए भी वह शारीरिक और आत्मिक उन्नति से वञ्चित रहेंगे। और इसका परिणाम यह होगा कि शीघ्र ही वह समाज नष्ट हो जाएगा और यदि नष्ट न भी होगा तो अतिशोचनीय अवस्था में रहेगा। दूसरी बात जो मनुष्य देह के चिरस्थायी रहने के लिये आवश्यक है यह है कि वह दूसरों के आघात से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो-यदि वह आत्मरक्षा न कर सकेगा तो अल्प समय में ही उसकी मृत्यु हो जाएगी ऐसे ही मनुष्य समाज के लिये आवश्यक है कि वह इतना शक्ति सम्पन्न हो, कि दूसरों के आक्रमण से अपने आप को बचा सके। अर्थात् समाज को ऐसे साधन उपस्थित करने चाहियें कि उसके सब व्यक्ति इतने बलवान् हों कि यदि उस पर कोई आक्रमण करे तो वह उसकी रक्षा कर सकें। इसके अतिरिक्त जैसे मनुष्य को उचित है कि अपने देहावयवों को दुर्बल न होने दे कि वह अपना कार्य्य करने के योग्य न रहें, और न किसी अवयव को इतना बलिष्ठ होने दें कि वे दूसरे अवयवों का भोज्य छीन ले, ऐसे ही समाज को ध्यान रखना चाहिये कि उस के व्यक्तियों की संख्या कम न होने पावे और न किसी वर्ण की हीनावस्था

होने पावे—न उसके व्यक्तियों की संख्या इतनी अधिक हो कि उनको भोजन मिलना भी दुर्लभ हो जावे और न कोई वर्ण इतना बलवान हो जावे कि दूसरे वर्णों का भोजन छीन सके और उन पर अत्याचार कर सके।

सभ्यगण! हमने यह तो जान लिया कि मनुष्य समाज का आदर्श क्या है? अब यह विचार करना शेष रहा कि वह आदर्श आज संसार में किसी समाज के जीवन में चरितार्थ भी हो रहा है या नहीं? क्या हम पृथ्वी भर में ऐसा समाज देखते हैं जो सब अंशों में पूर्ण कहा जा सके-क्या एशिया, यूरोप, अमरीका अफ़्रीका, आस्ट्रेलिया में ऐसा समाज दृष्टिगोचर होता है, जिसके विषय में हम कह सकें कि उसके सब व्यक्तियों की स्वल्प कष्ट से उदर पूर्ति हो जाती है। उसमें ऐसे मनुष्य नहीं हैं जो रात को शय्या पर भूखे सोते हों-उसके सब व्यक्ति शारीरिक और आत्मिक बल सम्पन्न हैं-उनमें किसी रोगी का रुदन सुनने में नहीं आता-सब व्यक्ति स्वस्थ और पीड़ा से मुक्त हैं—उसके सब व्यक्ति ऐसे बलवान् और निर्भय हैं कि वह बड़े से बड़े आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकते हैं-उसके व्यक्तियों की जन संख्या न इतनी न्यून है कि उसको थोड़े ही काल में नाश हो जाने का भय हो, न इतनी अधिक है कि उसको नित्य यह चिन्ता हो कि भोजन कहां से और कैसे मिले-उस में कोई वर्ण ऐसा दुर्बल नहीं है कि अपना नियत कार्य्य

न कर सकता हो, और न कोई इतना बलवान् है कि वह दूसरे वर्णों पर अन्याय करता हो, और सामाजिक उन्नति में रुकावट डालता हो—उसमें सब व्यक्ति अपना २ हित दूसरों के हानि पहुंचाए बिना सम्पादन करते हैं, और समाज के लाभ में अपना लाभ और हानि में हानि समझते हैं-पहिले हम यदि आर्य्यावर्त्त के समाज की ही दशा को देखें तो हमें सहज में ही यह पता लग जाता है कि वह सन्तोष जनक दशा में नहीं है—आदर्श से कोसों दूर है-प्रथम तो आर्य्यावर्त्त निवासियों को पेट भर अन्न ही नहीं मिलता-यह कहना अत्युक्ति नहीं है, कि देश के किसी न किसी भाग में थोड़ा बहुत दुर्भिक्ष सदा ही बना रहता है, और यद्यपि राज्य की ओर से क्षुधापीड़ित कङ्गलों के पालन का बहुत कुछ प्रबन्ध होता है, और करोड़ों रुपया व्यय होता है परन्तु फिर भी अकथनीय दुःख होता है और ऐसे २ हृदय विदारक और भयङ्कर दृश्य देखे जाते हैं कि त्राहि मां के अतिरिक्त और कुछ मुख से नहीं निकलता। और जब दुर्भिक्ष भी नहीं होता तब भी किन्हीं २ मनुष्यों को इतना अन्न नहीं मिलता जिससे उनकी क्षुधा निवृत्ति हो सके-हमारे स्वास्थ्य की तो कथा ही न पूछिये-यदि किसी को दुर्बलकाय दुर्बलेन्द्रिय रोगी मनुष्य को देखना हो तो हमारे विद्यार्थियों के दर्शन कर लेवें। उन में सौ में से दस पांच ही ऐसे मिलेंगे जिन को

किसी न किसी रोग ने न ग्रस रक्खा हो—रोगियों की यदि गणना की जावे तो करोड़ों तक संख्या पहुंचेगी—नित्यप्रति वैद्यों हकीमों और डाक्टरों की संख्या बढ़ती जाती है, प्रतिवर्ष दश बीस चिकित्सालय नये खुल जाते हैं। लोग इस को देश के सौभाग्य का चिन्ह समझते हैं क्योंकि उन के विचार में इस से रोगियों की चिकित्सा और औषध प्राप्ति में सुविधा होता है, परन्तु गूढ़ दृष्टि से देखने से आप को विदित होगा कि यह वृद्धि रोगीजन की संख्या वृद्धि की सूचक है—यदि रोगी कम हो जावें तो चिकित्सालय बन्द और चिकित्सक ठाली हो जावें—कोई समाचार पत्र हाथ में लेकर देख लीजिये उस में आप को अधिकतर औषधों के ही विज्ञापन मिलेंगे और औषध भी किन रोगों की—अधिकांश में ऐसे रोगों की जिन का नाम लेना भी बुरा है—फरङ्ग मूत्रकृच्छ्रादि अति ग्लानियुक्त रोगों की वृद्धि से हमारी कुत्सितगति का बोध होता है, व्यभिचार की वृद्धि का पता लगता है—कौनसा रोग है जिस ने हम को नहीं सताया, कौनसी पीड़ा है जिस ने हमारे जीवन को दुःखमय नहीं बनाया—इस से यह तो स्पष्ट ही है कि हम आत्मसंरक्षण में सर्वथा असमर्थ हैं—ऐसी शारीरिक अवस्था में हम आत्मरक्षा कर ही नहीं सकते दूसरों की सहायता करने की तो कथा ही क्या है, आत्मिक अवस्था इस से भी अधिक निकृष्ट है—वकीलों न्यायालयों और

अभियोगों की संख्या वृद्धि से हमारी कलहप्रियता, वैरभाव, छल, कपट, असत्य, लोभादि का प्रकाश होता है–हमारे व्यापार में सत्य लुप्तप्राय है, बाज़ार में कोई सौदा क्रय वा विक्रय करने जाते हैं तो विक्रेता और क्रेता एक दूसरे को ठगने का प्रयत्न करते हैं। बन्दीगृहों की रिपोर्टों से प्रकट होता है कि हम में छल, कपट, चोरी, मिथ्याचार, अन्याय, क्रूरता, हिंसाभावादि दूषण बढ़ते जाते हैं–जिस का अर्थ यह है कि हम में स्वार्थता की पराकाष्ठा हो गई है। हम अपने भले के लिये दूसरे का अनिष्ट करने में तनिक भी संकोच नहीं करते–यदि थोड़े से लाभ से दूसरे का सर्वस्व भी जाता रहे तो भी हम में ऐसे पुरुष निकल आएंगे जो अपना स्वार्थ साधन करने से न चूकेंगे–हम ने यह विचारा ही नहीं कि सब के भले में हमारा भला और सब के बुरे में हमारा बुरा है। हम अपने आप को समाज का अङ्ग ही नहीं समझते, विवाह जैसी पवित्र रीति के गौरव को हमने सर्वथा भङ्ग कर डाला है। उस का प्रयोजन हमारी दृष्टि में केवल कामाग्नि को शान्त करने का है न कि उत्तम सन्तान उत्पन्न करने का–ब्रह्मचर्य्य का नियम शिथिल हो जाने से जहां और अन्य दूषण समाज में प्रवेश कर गए हैं वहां सन्तानोत्पत्ति के विषय में बड़ी गड़बड़ हो गई है–उस से दो बड़े प्रबल दूषण उत्पन्न हो गए हैं, एक तो यह कि बहुत से कुलों में सन्तान

उत्पन्न करने की शक्ति ही नष्टप्राय हो गई है-दूसरा यह कि किन्हीं किन्हीं पुरुषों के बहुत सन्तान होती हैं, और जो सन्तान होती है; वह दुर्बल और रोगी होती है, जिन का जीवन दुःख में ही व्यतीत होता है-यही दशा बल्कि इस से भी हीन योरोप के मनुष्य समाज की है-योरोप में इतनी सम्पत्ति होते हुए भी लोग पेट भर भोजन नहीं पा सकते-जो दरिद्री हैं उन का दुःख अकथनीय है उन पर मानो दुःख का पहाड़ टूट रहा है, जिस के नीचे वह पिसे जाते हैं और उन की कोई नहीं सुनता-जो धनी हैं संसार के सारे सुख उन के लिये उपस्थित हैं-सारे अच्छे गुणों से वे अलङ्कृत हैं-धनी ही कुलीन है, धनी ही सम्मा-स्पद है, निर्धन सब सद्गुणों से रहित हैं "सर्वे गुणाः-काञ्चनमाश्रयन्ति" व्यभिचार की भी वृद्धि ही हो रही है-विवाह के पश्चात् विवाह के बन्धन को भङ्ग करने की प्रथा बढ़ती चली जाती है और यह विचार बहुत कुछ फैलता जाता है कि विवाह की रीति को दूर ही कर देना चाहिये-स्त्री पुरुष जब तक मिल कर रहें तब तक रहें; यदि उन में न बने तो उन को एक दूसरे से सम्बन्ध न रखना चाहिये-मांस और मदिरा पान तो योरोप में दोष ही नहीं गिना जाता। सैकड़ों प्रकार की मदिराएं सोने चांदी के भाव बि-कती हैं, और पीने वालों के शरीर की सुन्दरता और स्वास्थ्य को नष्ट करती हैं-भ्रातृभाव घट रहा है, बेटा

बूढ़े बाप की सहायता से जी चुराता है। बेटा पुत्र कलत्र के साथ आनन्द भोगता है और बाप दरिद्र घर में पड़ा हुआ सड़ता है—स्त्री पुरुष विवाह के बन्धनों से मुक्त रहना चाहते हैं और ऐसे स्त्री पुरुषों की संख्या बढ़ती जाती है जो मरण पर्य्यन्त अविवाहित रहते हैं—और जो लोग विवाह भी करते हैं उन में कोई २ यह विचार रखते हैं कि सन्तान उत्पन्न न की जावे क्योंकि इस से उन के विषयभोग में बाधा पड़ती है। अतः वह गर्भ की स्थिति रोकने के वास्ते अनेक जघन्य और घृणित उपाय करते हैं जिन से उन के मैथुनसुख में बाधा न पड़े, और गर्भ स्थिर न होने पावे—स्त्रियों का प्रसवपीड़ा के सहन करने से डरना पुरुषों का सन्तान के भरण पोषण के भार को अपने सिर पर लेने से घबराना भी किसी अंश में अविवाहित रहने और गर्भ स्थिति को रोकने के उपाय करने का कारण है—इसी कारण से योरोप के किसी २ देश में जनसंख्या कम होने लगी है। फ़ान्स में तो बहुत ही कम हो गई है और वहां की सर्कार अनेक उपाय कर रही है जिन से पुरुष और स्त्री विवाह करने से जी न चुरावें—और ऐसे नियम प्रचलित किये जा रहे हैं, जिन से स्त्री पुरुष इस दुष्ट विचार को त्यागें—व्यभिचार के कारण बहुत से बालक अविवाहिता स्त्रियों के जन्मते हैं, जिन को वह लोक लज्जा के भय से सड़क आदि पर फेंक देती

हैं। अब ऐसे बालकों के रक्षणार्थ बहुत सी स्थापनाएं खुल गई हैं। पहिले एक अतिकुत्सितस्थापना थी जो बेबीफ़ार्मिङ्ग के नाम से प्रख्यात थी और जो हर्ष का विषय है कि अब कम हो गई है। वह यह थी कि कुछ स्त्रियों की यह आजीविका थी कि वह ऐसे बालकों के पालने का मिष करती थीं और दुर्भागास्त्री से उस की सन्तान को लेलेती थीं। जो कुछ रुपया वह वा उस का जार देता था, दुष्टा स्त्रियां बालकों के पोषण पर व्यय नहीं करती थीं किन्तु अपने व्यय में लाती थीं और बालक को तड़पा २ कर मार डालती थीं। बेचारी अभागा स्त्री लज्जाभङ्ग के भय से कुछ न कह सकती थीं और उन दुष्टास्त्रियों को नियत रुपया दिये जाती थीं—किसी २ देश में जन संख्या बहुत बढ़ रही है उन को यह चिन्ता है कि सब पेटों को आटने के वास्ते अन्न कहां से आवे— वैद्यकशास्त्र की प्रकाण्डउन्नति होते हुवे भी रोगों और रोगियों की वृद्धि हो रही है—यदि आप योरोप के मनुष्य समाज का चित्र देखना चाहें तो बोथ साहिब का Darkest England और स्टीड साहिब का If Chuist came to Chicags आदि ग्रन्थ अवलोकन करें—सब से प्रबल और मुख्य दूषण जो आजकल योरोपमनुष्यसमाज में फैल रहा है और जिस से भय है कि समाज अस्तव्यस्त न हो जावे धनी और निर्धनों का संग्राम है जो बड़े वेग से हो रहा है—धनी

लोगों के हृदय में यह भाव बढ़ता जाता है, कि असीम धन एकत्रित करें और कलगृहों में काम करने वालों को कम से कम वेतन दें और उन से अधिक से अधिक काम लें—लोगों का यह निश्चय हो गया है कि धनोपार्जन करना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है, क्योंकि धन द्वारा ही आजकल सब वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं। अतः मनुष्य प्रकृतिजन्य पदार्थों का दास होता जाता है—निर्धन अभी यह समझते हैं कि वास्तव में धन के उत्पन्न करने वाले हम हैं, हम अपने पसीने से अनेक पदार्थ उत्पन्न करते हैं और यह धनी लोग जो हाथ तक नहीं हिलाते हमारी गाढ़ी कमाई को हम से छीन लेते हैं। ऐसा करने का उन को कोई अधिकार नहीं है—सब वस्तुएं उन के उत्पन्न करने वालों को मिलनी चाहियें यह जो धनी-जन के बीच में आ कूदते हैं वह चोर और डाकू हैं। इसी कारण एक ऐसा समूह उत्पन्न हो गया है जो धनी लोगों के धन छीनने में किसी उपाय के करने से नहीं चूकता—चाहे वह कैसा ही निन्दनीय हो—वह चोरी से धन प्राप्त करना दोष नहीं समझता—वध करके धन छीनना पाप नहीं समझता। वह कहता है सब मनुष्य समान हैं जो पदार्थ पृथिवी पर हैं, वे सब के हैं किसी को उन पर स्वत्व करने का अधिकार नहीं है और जो अपना स्वत्व जमाता है वह डाकू है—हर प्रकार का धन डकैती है-किसी मनुष्य को यह अधि-

कार नहीं है कि वह दूसरे का शासक बने वा उस को किसी प्रकार अपने वश में रक्खे-मनुष्य को किसी को अपना स्वामी नहीं मानना चाहिये, वह चाहे परमेश्वर ही क्यों न हो। सब मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र रहने चाहियें इसी समूह का नाम अराजकताप्रचारक (Anarchist) है। यह लोग बड़े भयङ्कर हैं और यह दुष्ट से दुष्ट कर्म करने से भी नहीं डरते इन्हीं के बड़े भाई (Nihilist s) हैं जिन के अत्याचारों से रूस में हाहाकार मचा हुआ है-इन सब के पिता (Socialists) हैं वास्तव में (Socialists) के अन्तर्गत सब ऐसे समूह हैं जो आज कल की समाज की दशा से असन्तुष्ट हैं, और जो उसकी उन्नति का उपाय इस नियम पर करना चाहते हैं कि स्वत्व का विचार ही संसार से नष्ट कर दिया जावे। समाज ही सारे पदार्थों का स्वामी रहे कोई व्यक्ति किसी वस्तु का—जिससे मनुष्य के वर्तने की वस्तुएं उत्पन्न हो सकें जैसे भूमि, कलादि—स्वामी न हो। सब मनुष्यों को मनुष्य जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों के उत्पन्न करने के लिये श्रम करना चाहिये, और प्रत्येक मनुष्य को उसके समय और श्रमानुसार खाने पहिनने आदि के पदार्थ समाज की ओर से दिये जावें। किसी को रुपया रखने का अधिकार न हो। व्यापार व्यवहार वस्तुओं का क्रय और विक्रय सर्वथा बन्द किया जावे, जब स्वत्व का विचार संसार से उठ जाएगा, तो स्वत्व संबन्धी जितनी स्थापनाएं

और नियम हैं वह भी नष्ट हो जाएंगे। न्यायालय, न्यायाधीश, बन्दीगृह आदि सब मिट जाएंगे धर्म (मत) का भी नाम न रहेगा, पाप पुण्य का विचार भी जाता रहेगा, लोग समाज के लिये ही जीना और काम करना सीखेंगे, स्वार्थ नष्ट होजाएगा और कलह—जिसका मूल धन है—और तज्जन्य क्लेश सर्वथा निर्मूल हो जाएंगे।

आप स्यात् कहेंगे, कि अद्यकालीन समाज का चित्र खींचने में अत्युक्ति से काम लिया गया है, समाज की त्रुटियों पर कालीरङ्गत चढ़ा कर उनको बहुत ही भयानक बनाया गया है, उसके गुणों का उल्लेख तनिक भी नहीं किया गया, और स्यात् कोई आधुनिक सभ्यता से मोहित कहेगा कि देखो मेरी विद्या और बुद्धि का चमत्कार! मैंने समुद्र पर अपना स्वत्व स्थापित किया है, मेरी धूम्रनौका समुद्र के कलेजे को चीरती हुई बात की बात में सैकड़ों कोस चली जाती है, और अनेक सुन्दर से सुन्दर पदार्थ एक देश से दूसरे देशों में ले जाती है। मैंने पृथ्वी के चारों ओर व्यापार का चक्र बांध दिया है, जिससे मनुष्यों की सुख सामिग्री में बहुत बड़ी वृद्धि होगई है। मैंने समुद्र का मान भङ्ग कर दिया है, मैं उसकी कल्लोलों से किलोलें करता हूं। वायु का वेग समुद्र में क्षोभ उत्पन्न करके उसकी तरङ्गों को बांसों ऊंचा उठा कर मेरी नौका पर दौड़ता है, मैं उसके अकिञ्चित्कर कोप पर हंसता हूं और आनन्द

के गीत गाता हुआ बेखट्के चला जाता हूं। भूमि पर तो मेरी महिमा की सीमा ही नहीं है—दुर्गम से दुर्गम पथों पर, पहाड़ों, घाटियों, नदियों, दलदलों और सघन बनों में धूम्रपान मुझे और मेरी सम्पत्तिको अपनी पीठ पर लादे, निर्भयता पूर्वक चीत्कार करता हुआ और धुएं उड़ाता हुआ चला जाता है—पर्वतों की हिमाच्छादित चोटियों पर जहां पक्षियों के भी पंख गिरते हैं मैं पहुंचता हूं, और पर्वतीय मनोहारि दृश्य के आनन्द लूटता हूं—गहरी से गहरी कन्दराएं और गुफ़ाएं, जिन में किसी प्राणी का प्रवेश तो दूर सूर्य्य की किरणें भी नहीं जासकती हैं मुझे मार्ग देती हैं—मैं अपने घर में बैठा हुआ दूरश्रावक-यन्त्र द्वारा कोसों पर बैठे हुए अपने मित्र से ऐसे बात चीत करता हूं कि मानो वह मेरे सन्मुख उपस्थित है — विद्युत को मैंने दास बना छोड़ा है पल भर में वह मुझे पृथिवी के दूर से दूर देशों से समाचार लाकर सुनाता है वह मेरी गाड़ी हांकता है मेरा भोजन पकाता है —मेरे मन्दिर में प्रकाश करता है मुझे पंखा झलता है मेरा ऐश्वर्य्य अपार है मेरा आनन्द असीम है—परन्तु इस गर्वित वचन को सुन कर कोई आधुनिक सभ्यता के प्रकाश से न चौंधियाया हुआ मनुष्य उत्तर देता है, ऐ क्षुद्र मनुष्य ! तू किस लिये घमण्ड करता है तेरी यह सम्पत्ति और वैभव किस अर्थ का है, जब तेरा शरीर ही निरोग नहीं है? उत्तम से उत्तम

भोजन तेरे सामने चुने हुए हैं परन्तु कोष्टबद्ध तुझे इतनी भी आज्ञा नहीं देता, कि तू उसको जिह्वा पर भी रखले। दन्तशूल तुझे रात भर सोने नहीं देता, गठिया तुझे घर से बाहर पग भी नहीं धरने देती। अनेक प्रकार के रोगों ने तेरा जीवन नरकमय कर रक्खा है। यही नहीं कि तुझे शारीरिक व्यथाओं ने ही ग्रस रक्खा है मानसिक व्यथाएं भी तुझे चारों ओर से घेरे हुए हैं। तेरी वित्तैषणा इतनी बढ़ गई है, कि तू रात दिन इसी उधेड़-बुन में रहता है कि किसी प्रकार तू धन सञ्चय करे चाहे तुझे कितने ही घृणित उपाय करने पड़ें। जैसे मस्त-मतङ्ग छोटे २ कोमल पौदहों और सुकुमार लतिकाओं को रौंदता हुआ चला जाता है, ऐसे ही तू भी धन के मद से अन्धा होकर दीन अनाथों को ठुकराता हुआ जा रहा है और उनके दुःख की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता। चिन्ता की दावानल तेरे शरीर और मन-रूपी वन को भस्मसात कर रही है, दिव्य वस्त्र और भूषणों से अलङ्कृत नाना प्रकार की सुगन्धियों से सुवासित अनेक तैलों से स्निग्ध रूपयौवनसम्पन्न-शरीर के भीतर तृष्णा, लोलुपता, ईर्षा का वायु तेरे मनः सागर को अपने थपेड़ों से तुङ्ग तरङ्गों में उछाल रहा है। शान्ति का नाम नहीं जिधर देखो विह्वलता और चञ्चलता का राज्य दिखाई देता है, तुझे न बैठे चैन है, न लेटे चैन है तू ऐसा विह्वल हो रहा है कि मानों किसी ने तेरे पैरों के नीचे अग्नि प्रदीप्त कर

रक्खी है तेरे वह भाई जिनको पेट भर रोटी मिलनी कठिन है तेरे शत्रु होरहे हैं। उनकी दृष्टि में तू चोर है। तू कहता है कि यह सब धन और भोग सामग्री तूने अपने बुद्धि बल से एकत्रित की है, वह कहते हैं कि यह उनकी कमाई है। जिसके प्रस्तुत करने में उन्होंने अपना रुधिर और पसीना एक कर दिया है, उन्होंने दिन भर कठिन परिश्रम किया सायङ्काल को तूने उन्हें दो चार आना देकर विदा कर दिया। जिससे वह अपने पुत्र कलत्र की क्षुधा निवृत्ति भी नहीं कर सके। तेरी पाकशाला में नाना प्रकार के खाद्य, लेह्य चोष्य और पेय पदार्थ उपस्थित हैं जिन के स्वाद का तेरी रसना चटखारे ले रही है; परन्तु वह जिन्हों ने तुझे इस योग्य किया कि तू उन पदार्थों का सञ्चय कर सके रूखी सूखी रोटी को भी तरस रहे हैं - तू समूर में दबा पड़ा है उन के पास शीत निवारण के लिये मोटा झोटा कम्बल भी नहीं देखते।

अद्यकालीन सभ्यता के शिरोमणि हक्सली साहब क्या कहते हैं ? वह कहते हैं कि यदि कोई बड़ी उन्नति समाज में नहीं हो सकती और दुःख कम नहीं हो सकता, तो मैं ऐसे कृपालु पुच्छल तारे का स्वागत करूंगा जो एक बार पृथिवी से टकरा कर सारे कार्य्यालय को नष्ट भ्रष्ट कर डाले। एक और विद्वान् पश्चिमीय सभ्यता को रोग से उपमा देते हैं। एक महाशय यह कहते हैं कि आज कल का सभ्य पुरुष थोड़े समय

पीछे दन्तरहित जिलबिला प्राणी हो जायगा जिसको चलने फिरने की भी शक्ति न रहेगी । ऐसी दशा में कौन कह सकता है कि तू सुखी है ?

यह है दशा आधुनिकमनुष्यसमाज की अब थोड़ी देर के लिये प्राचीन मनुष्यसमाज की दशा पर भी दृष्टि डालिये, और आधुनिकसमाज की दशा से उस की तुलना कीजिये आप को विदित होगा कि उस समय मनुष्य का हृदय ऐसे दुष्टभावों से दूषित न था, जो उस को अब कलङ्कित कर रहे हैं- उससमय का दृश्य जो पुस्तकों में देखने में आता है स्वप्नावस्था के अनेक दृश्यों के समान ऐन्द्रजालिक प्रतीत होता है और कितने ही सज्जन तो उसे सचमुच ऐसा ही मानते हैं । परन्तु ऐसे दृश्य वास्तविक थे क्योंकि वह समाज संगठन के सत्य नियमों से स्वतः प्रवाहित होते थे । जैसे स्रोत से नदी की धारा निकलती है । और यदि फिर भी उन्ही नियमों पर समाज का संगठन किया जावेगा तो इस में तनिक भी सन्देह नहीं कि वह दृश्य जो आजकल काल्पनिक समझे जाते हैं वास्तविक और सत्य हो जावेंगे- उस समय स्वार्थ की लहर ऐसे वेग से न चलती थी जैसी आजकल जो बलवान से बलवान मनुष्यों को धकेले चली जाती है—इस भूत ने ऐसा अधिकार आत्माओं पर न जमाया था जैसा आज कल जमा रक्खा है कि मनुष्य दया, धर्म, सत्य, सब कुछ उस की भेंट चढ़ा

रहे हैं परन्तु उसका दग्धोदर भरने में नहीं आता। प्रकृति जन्य पदार्थों की चाह ने हृदय मन्दिर के निवासी परोपकार प्रीति सदाचार शान्ति सुख को भस्मसात कर के श्मशान के सदृश बना दिया है और अब उस में ईर्षा डाह तृष्णा काम क्रोध द्वेष लोभ मोह के भूत नाच रहे हैं। उस समय के मनुष्य सर्वाङ्ग पूर्ण थे अर्थात् उन के केवल शरीर ही पुष्ट, बलिष्ट और नीरोग न थे किन्तु उन के आत्मा भी बलवान, निर्भय और उच्चभाव युक्त थे, उन के अङ्ग सुन्दर सुडौल और दृढ़ थे, उन की इन्द्रियां अपने २ कार्य्य करने में समर्थ परन्तु उन के वश में थीं, उन के मन स्थिर और शिवसङ्कल्प वाले थे, उन के आचार और विचार पवित्र थे, वह पुरुषार्थी श्रमशील थे और आलस्य और प्रमाद रहित थे, वह असह्य से असह्य कष्टों और दुःसह से दुःसह दुःखों से न घबराते थे– कोई भय उन को न्याय पथ से विचलित न कर सकता था–वे कर्तव्यपरायण ऐसे थे कि मृत्यु भी उन को कर्तव्य से विमुख न कर सकता था–उन में स्वार्थ का लेशमात्र न था–परोपकार में ही वे अपना जीवन व्यतीत करते थे–वे प्राणीमात्र को मित्र की दृष्टि से देखते थे और सब की मङ्गल कामना करते थे–उनका निश्चय था कि समाज के लाभ में उन का लाभ और हानि में हानि है। स्त्री पुरुष सखाभाव से वर्तते थे आज कल जैसा अन्याय युक्त व्यवहार भारतवर्ष में

होरहा है उसका नाम भी न था—जिन को आज पैरों की जूती कहा जाता है वह देवियां शिरोमणि कहलाती थीं और मानास्पद थीं—पुरुष पत्नीव्रत और स्त्री पतिव्रत को कभी उलङ्घन न करती थीं—पिता सच्चे अर्थों में रक्षक और पुत्र दुःख मोचन करने वाला था—इस प्रकार पुत्र पिता के आज्ञानुवर्ती रहता था—भ्रातृ भाव ऐसा गहरा था कि भाई भाई पर न्यौछावर होता था—स्वामी और भृत्य में अगाध प्रीति थी—उन के मन में "अयं निजः परो वा" का विचार ही नहीं था—स्वामी सदा भृत्य के पालन और रक्षा करने में तत्पर और भृत्य सदैव स्वामी की सेवा और मङ्गल कामना में रत रहता थ—राजा प्रजा को पुत्रवत् और प्रजा राजा को पितावत् मानती थी और एक दूसरे के कष्ट में कष्ट और सुख में सुख मानते थे। प्राचीन इतिहास को देखिये कैसे महानुभाव होगये हैं। एक नहीं दो नहीं दस नहीं असंख्य महात्मा पुरुष ऐसे थे जो सर्वाङ्ग पूर्ण थे जिन्होंने जीवनतत्व को जान कर अपने चरित्र में उसको दर्शा दिया था। महाराजा हरिश्चन्द्र ने राज्य को छोड़ा चाण्डाल की सेविकाई स्वीकार की परन्तु सत्य पालन से मुख न मोड़ा। महारानी तारामती ने दासी बनना अङ्गीकार किया परन्तु पति की आज्ञा का उल्लङ्घन न किया। महाराजा रामचन्द्र ने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य्य करके राज्य वैभव को तृणवत् समझ बन की बाट ली

महारानी सीता जैसी कोमलाङ्गी ने बनवास के दुःसह और घोर कष्टों को सहन करके भी पतिव्रत धर्म को निबाहा। भीष्मपितामह ने अपने पिता के दुष्कर कामानल को शान्त करने के हेतु भीष्म कर्म करके अपने सुपुत्र होने और अखण्ड और भीम साहस का परिचय दिया और शूरवीरता का महाभारत के युद्ध में वह आदर्श स्थापित किया जिसको देख कर संसार भर चकित हो रहा है। वाल्मीकी, वसिष्ठ, कणाद गौतमादि ऋषि मुनियों ने उग्र तप अलौकिक विद्या और बुद्धि के वह प्रभाव दिखलाए जिनको देखकर यूरोप के धुरन्धर पण्डित विस्मयान्वित होरहेहैं। जब हमको यह ज्ञात होगया कि आजकल समाज की दशा बहुत हीन और शोचनीय है और हम यह भी जान गये हैं कि प्राचीन समाज की दशा बहुत उत्तम थी तो इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि समाज के दूषण दूर करने का एक मात्र उपाय समाज को फिर से प्राचीन समाजके नियमोंपर स्थापित करनाहै। आजकल क्या यूरोपियन विद्वान् और क्या भारतीय विचारशील वर्तमान दशा से असन्तुष्ट हो रहे हैं, और सामाजिक-उन्नति के अनेक उपाय सोच रहे, हैं सैंकड़ों पुस्तकें इस विषय पर लिखी जारही हैं—सैंकड़ों लेख सामाजिक पत्रों में निकल रहे हैं—जो २ उपाय सामाजिक उन्नति के बतलाए जाते हैं उन में सब से अधिक प्रचरित (Socialism) सोशलिज़्म है—वह क्या है

इस का संकेत थोड़ासा मैं आप को देचुका हूं—सोश-लिज़्म का मुख्य अभिप्राय यह है कि आज कल प्र-त्येक मनुष्य अपनी २ पूंजी का स्वत्व रखता है, और वह उस पूंजी से दूसरे पदार्थ उत्पन्न करता है जो मनुष्यजीवन के लिये आवश्यक हैं। इस प्रकार पदार्थ बनाने वालों में लाग लग जाती है, और हर एक यह प्रयत्न करता है कि वह अपने प्रतिपक्षी से सस्ती वस्तु बनाकर बेचे और इसी कारण वह यह भी यत्न करता है कि श्रमी लोगों को जो उस की कोठी में काम करते हैं यथा सम्भव कम वेतन दे और उन से अधिक काम लेवे—इसका परिणाम यह होता है कि श्रमीजनों को केवल उतना रुपया मिलता है जो उन को भोजन और वस्त्र प्राप्त करा सके शेष लाभ उस धनी की गांठ में रहता है—वास्तव में उस लाभ के अधिकारी श्रमीजन हैं, क्योंकि उन के ही श्रम और समय से वह पदार्थ बनते हैं। उस धनी का अधिकार उस लाभ में से एक पैसा भी लेने का नहीं है—जो कुछ दारुण दुःख समाज को सता रहे हैं उनका आदि मूल पूंजी पर मनुष्यों का स्वत्व अधिकार ही है—अतः जो पूंजी हो वह सम्पूर्ण समाज की हो अर्थात् मनुष्य जीवन के लिये जो वस्तुएं आवश्यक हैं उन के बनाने और उत्पन्न करने का अधिकार सम्पूर्ण समाज को होना चाहिये—समाज ही उन को बनाकर सम्पूर्ण समाज के व्यक्तियों में बांटे और कितनी २ वस्तु प्र-

त्येक व्यक्ति को मिलनी चाहिये इस की माप तोल हर व्यक्ति के श्रम और समयानुसार होनी चाहिये जो उसने समाज के कोठी और कलागृहों में पदार्थों के बनाने वा अन्य प्रकार से समाज की सेवा करने में व्यय किया है—आज कल समाज में आलसी लोगों की संख्या अधिक है और काम करने वाले बहुत कम हैं और उन को उनके श्रम का पूरा फल नहीं मिलता। यदि सब मनुष्य श्रम शील हों तो उनको ३ वा ४ घन्टे प्रति दिन से अधिक काम करने की आवश्यकता न होगी, वह इतने ही समय में भोजन वस्त्रादि आवश्यक वस्तुएं कमालेंगे—और शेष समय वह अपनी मानसिक उन्नति में व्यय करेंगे—समाज जिस वस्तु को लाभकारी समझेगा उसको ही बनावेगा और हानिकारक वस्तुओं को न बनावेगा—आजकल चाहे कैसी ही हानिकारक वस्तु हो यदि उसकी मांग है और मनुष्य उस को वर्तते हैं तो उसका बनना बन्द नहीं होता—और समाज को बहुत हानि पहुंचती है—आज कल जिस वस्तु की मांग होती है वही बनने लग जाती है—यदि मांग अधिक होती है तो भाव बढ़ जाता है—बाज़ार में वह वस्तु चटपट बिक जाती है जब मांग कम होती है वह वस्तु सस्ती हो जाती है और बाज़ार में पड़ी रहती है। इस कारण मांग की कमती बढ़ती जानने के लिये किसी विशेष प्रबन्ध की आवश्य यता नहीं होती, परन्तु सोशलि-

ज़्म का प्रचार होने पर मांग की दशा जानने का यह द्वार बन्द होजावेगा, उस समय समाज की ओर से यह प्रबन्ध होगा कि बहुत से निरीक्षक नियत किये जाएंगे जो प्रत्येक नगर और देश के मनुष्यों की आवश्यकताओं की परताल करेंगे, और जहां २ जिस २ वस्तु की जितनी २ मांग होगी वहां २ वही २ और उतनी २ वस्तु भेजते रहेंगे और कोठियों को उन २ वस्तुओं के बनाने की सूचना देते रहेंगे—सब पूंजी समाज की होगी और उतनी पूंजी को छोड़कर जो मांग पटने के लिये आवश्यक हो अथवा दूसरी लाभकारी स्थापनाओं के लिए आवश्यक। हो शेष सारी वस्तुएं समाज के व्यक्तियों में उनके श्रम और समय के अनुसार जो उनका लगा है बांटदी जाएंगी—यह पूंजी ही आज कल के अनेकानेक करों की स्थानापन्न होगी रुपये का वर्ताव सर्वथा बन्द हो जाएगा। क्योंकि कोई वस्तु रुपया देने से न मिल सकेगी श्रम ही रुपये की जगह ले लेगी—जैसे आज कल हम चांदी वा सोने के टुकड़ों के बदले वस्तुएं लेते देते हैं सोशलिस्ट समाज में श्रम के बदले समाज से ले सकेंगे—वस्तुओं का क्रय विक्रय व्यवहार व्यापार निर्मूल हो जाएगा—भूमि वा घरों का किराया भी न मिल सकेगा क्योंकि सब भूमि और घरों का स्वामी समाज होगा रैल तार आदि भी समाज के स्वत्व में रहेंगे जो कोई व्यक्ति उनको अपने वर्ताव में लावेगा वह भी श्रम के

बदले में ला सकेगा–जब रुपये का वर्ताव ही न रहेगा तो व्याज भी दिया लिया न जायगा–यदि कोई किसी को कोई वस्तु उधार देगा तो उधार लेने वाला उसके बदले में या तो वही वस्तु देगा या उतने श्रम का अपना सार्टिफ़िकट देगा जिस से वह वस्तु समाज से मिल सके–आज कल एक मनुष्य दूसरे को १००) देता है उसको १००) के बदले में १००) ही नहीं परन्तु १००) से बहुत अधिक मिलता है–उधार लेने वाले पर बहुत अन्याय होता है वह १००) में उतनी वस्तु लेता है जो उसको एक महीना प्रतिदिन श्रम करने से मिल सकती है परन्तु उसे देने पड़ते हैं २००) अर्थात् दो महीने का श्रम–जो मनुष्य उधार देता है वह अपनी पूंजी दूनी करने के लिये कुछ श्रम नहीं करता अर्थात उसको बिना श्रम किये एक महीने के श्रम का फल मिल जाता है–सोशलिस्ट समाज में कोई मनुष्य बहुत सा धन इकट्ठा करके अपने पुत्र पौत्रादि को न छोड़ सकेगा क्योंकि उसके पास रुपया तो होगा ही नहीं, वही वस्तुएं होंगी जो उसने अपने श्रम से कमाई थीं और जो उसके वर्तने से बच रही थीं और ऐसी वस्तुएं किसी दशा में भी अधिक नहीं हो सकती–इस लिए स्वत्व और दायविभाग संबन्धी जितने झगड़े हैं सब जाते रहेंगे। सब मनुष्य समाज की दृष्टि में समान होंगे, स्त्री पुरुष का सम्बन्ध भी ऐसा अटूट न होगा जैसा आज कल है। जब तक उन

की निभेगी तब तक वह सम्बन्ध रहेगा; जब आपस की प्रीति न रहेगी तब ही उनको सम्बन्ध के तोड़ देने का अधिकार होगा। कोई किसी का स्वामी न होगा, चाहे वह परमेश्वर ही क्यों न हो। सब का स्वामी समाज होगा। सोशलिष्ट कहते हैं कि ईश्वर एक ऐसी वस्तु है जिसका हमारे जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—हम किसी ऐसे स्वामी को नहीं मान सकते। कोई किसी के विचारों में जब तक वह दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर आक्रमण न करे हस्त-क्षेप न कर सकेगा और हर व्यक्ति को धर्म विषय में यह पूरा अधिकार होगा कि चाहे जो विचार रक्खे और उसके प्रचार के लिये अपने श्रम फल को व्यय करे; परन्तु समाज उसके विचारों के प्रचार में कुछ सहायता न देगा--सोशलिस्ट समाज की सिद्धि तब ही प्राप्त हो सकती है जब सम्पूर्ण राज्याधिकार उसके हाथ में हो और इस लिए सोशलिस्ट लोग राजा पद को भी रखना नहीं चाहते। यह है सोश-लिज़्म के मुख्य २ विचारों का संक्षेपतः वर्णन। अब यदि आप इन विचारों की परताल करेंगे तो आप को विदित हो जाएगा कि यदि यह विचार फली भूत हो भी जावें तो इन से यही नहीं कि समाज के वर्तमान दूषण दूर न होंगे किन्तु उनसे भी बड़े दू-षणों का समाज में आवेश हो जाएगा। यह सत्य है कि समाज की दशा संशोधन को पुकार २ कर

मांग रही है। यह सत्य है कि समाज का संगठन ऐसा है, कि उसमें एक विशेष समूह को दूसरे समूहों पर अत्याचार करने का अवसर मिलता है और वह बेखटके और राज्यनियमों की सहायता से अत्याचार करता है। समाज के व्यक्तियों में जीवन सामग्री का बांट एकसा नहीं है, किसी के पास उसकी आवश्यकता से कई गुणी अधिक और किसी के पास आवश्यकता से न्यून सामग्री है और इस कारण बहुत सा दुःख और दरिद्रता समाज में पाई जाती है। परन्तु जो संशोधन बल्कि परिवर्तन सोशलिस्ट लोग करना चाहते हैं वह इन दोषों को दूर नहीं कर सकता। सब से बड़ा आक्षेप जो इन विचारों पर किया जा सकता है यह है कि वह असम्भव हैं। यदि स्वत्व को नष्ट कर दिया गया तो लोगों को श्रम करने की कोई उत्तेजना न रहेगी। आज कल जो लोग काम करते हैं वह इस कारण करते हैं कि उनको विश्वास है कि उनकी कमाई उनकी है कोई उसे छीन नहीं सकता और उसके द्वारा वह अपने और अपने सम्बन्धियों के अनेक हित साधन कर सकते हैं। यह सर्व सम्मत है कि मनुष्य में स्वार्थ वृत्ति बहुत प्रबल है, वह सब से पहिले अपना भला करना चाहता है, बल्कि दूसरों का बुरा करके भी अपना भला करता है। यह राज्यनियम और दण्डभय का ही प्रताप है कि मनुष्य दूसरों की हानि करने से रुका रहता है। और इस

नित्य यह दृश्य देखते हैं कि जब कभी उसके हृदय से यह भय जाता रहता है या वह समझता है कि वह पकड़ा न जाएगा वह दूसरों का अहित करने से नहीं चूकता—सोशलिस्टों का यह कहना कि जब सारी वस्तुएं ही समाज की होंगी तो एक व्यक्तिको दूसरों को हानि पहुंचाने के अवसर बहुत ही कम प्राप्त होंगे–परन्तु यह ठीक नहीं है देखिये सोशलिस्ट विचार के अनुसार चोरी नष्ट हो जाएगी क्योंकि जब वस्तुएं समाज की हैं तो इस प्रकार सब वस्तुएं सब व्यक्तियों की हैं इसलिये कोई अपनी ही वस्तु को न चुराएगा–परन्तु जो मनुष्य अब एक वस्तु को दूसरे की वस्तु समझ कर और उस को बिना परिश्रम प्राप्त करने की इच्छा से चुराता है। उस को सोशलिस्ट समाज में एक वस्तु को जो दूसरे ने अपने श्रम के बदले में समाज से पाई है चुराने में क्या संकोच होगा वा उस को उस कोठार में से ही जहां समाज ने वह वस्तु इकट्ठी कर रक्खी हैं चुराने से कौन रोकेगा ?–अन्तर केवल इतना ही है कि अब व्यक्ति स्वामी है सोशलिस्ट समाज में समाज ही स्वामी होगा और इस भाव का साधारण मनुष्य के हृदय में सञ्चार होना कि वह समाज की वस्तु होने से मेरी ही वस्तु है असम्भव सा प्रतीत होता है–स्वत्व के नष्ट हो जाने से जैसा मैंने ऊपर कहा है किसी मनुष्य को शक्ति भर काम करने की उत्तेजना न रहेगी और वह उतना ही काम

करेगा जितना उस की उदरपूर्ति के लिये आवश्यक होगा। जब एक प्रवीण और कुशल मनुष्य यह जानता है कि मुझे भी उतना ही भोज्य पदार्थ मिलेगा जितना एक निपटगँवार को, तो वह अपनी कुशलता क्यों व्यय करेगा? इस प्रकार समाज में से गुणों का तिरोभाव हो जाएगा और जीवन नीरस हो जाएगा और व्यक्ति हतोत्साह हो जाएंगे—पुत्र कलत्र से प्रेम न रहेगा, क्योंकि आजकल पुत्र कलत्र का निर्भर मनुष्य की कमाई पर होता है सोशलिस्ट समाज में वह अपने को उस के समान समझेंगे और किसी बात के लिये अपने को उस का कृतज्ञ न मानेंगे—गृहस्थ धर्म तब ही तक स्थित रह सकता है जब तक गृहस्थी स्त्री पुरुषों में यह भाव बना रहता है कि वह एक दूसरे के सहायक हैं—यदि स्त्री यह समझे कि उस को पति से कुछ लेना देना नहीं है तो उन में प्रेम का रहना कठिन है उस समय स्त्री पुरुष का मिलाप कामवश हुआ करेगा उस के पश्चात् स्त्री का पुरुष से और पुरुष का स्त्री से कोई विशेष सम्बन्ध न रहेगा। जो सन्तान होगी उस के भरणपोषण का भार समाज पर होगा। माता पिता से सन्तान की और सन्तान से माता पिता की प्रीति बढ़ने का कोई अवसर न मिलेगा और जो सद्गुण प्रेम सहानुभूति स्वार्थत्याग, एकतादि भाव गृहस्थियों में इस समय पाये जाते हैं उन का नाश हो जायगा—यह प्रबन्ध तो कभी होना सम्भव ही नहीं कि मांग

की दशा जानने के लिये इतने कर्मचारी रक्खे जावें कि वह हर स्थान की हर व्यक्ति की आवश्यकता जानें और उसी के अनुसार वस्तुएं समाज की कोठियों में प्रस्तुत करावें। इस के लिये बेगिनत कर्मचारियों की आवश्यकता होगी—और इतने हिसाबादि लगाने की आवश्यकता होगी कि जिस के चिन्तन ही से उस का असम्भव होना प्रतीत होता है—राजा के बिना किसी प्रकार निर्वाह हो ही नहीं सकता—मनुष्यों को सन्मार्ग में चलाने के लिये राजा और राज्यनियमों का होना परमावश्यक है संसार में हम हर जगह देखते हैं कि एक ही स्रोत होता है जिस से शक्ति का सञ्चार होता है और जो दूसरी वस्तुओं को सङ्गठित रखता है और उन को तित्तर बित्तर नहीं होने देता। देखिये सूर्य्य ही सब लोकों को उन की परिधि में चला रहा है। इसी प्रकार मनुष्यसमाज में भी राजा का होना परमावश्यक है—अन्त में सोशलिस्टों को भी यह मानना पड़ता है। वह कहते हैं कि जितने कुछ राज्याधिकारों की आवश्यकता पड़ेगी वह सब समाज के हाथों में होंगे परन्तु समाज हर छोटे से छोटे विषय में अपनी सम्मति प्रकट नहीं कर सकता उस को वह अधिकार व्यक्ति विशेषों को देने ही पड़ेंगे अर्थात् राज्याधिकार फिर भी व्यक्ति विशेषों के ही हाथ में रहेगा और इस का परिणाम यह होना भी सम्भव है कि वह व्यक्ति इतनी शक्ति प्राप्त करलें कि

समाज में राजा ही बन बैठें—इस के अतिरिक्त जब हम यह देख रहे हैं कि सोशलिस्ट विचारों के थोड़े से ही प्रचार से बड़े २ भयङ्कर फल चखने में आरहे हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सोशलिस्टसमाज एक स्वर्गीयसमाज होगा जिस में दुःख और क्लेश नष्टप्राय होजावेंगे—सोशलिस्ट विचारों के दो फल Anarchism अराजकतावाद और Nihitism विनष्टिवाद बहुत ही कड़वे सिद्ध हुए हैं। अराजकता प्रचारकों के कुकर्मों से सैकड़ों निरपराध मनुष्य समाज के शुभ चिन्तकों के प्राण जाते रहे हैं—वह सारे धनाढ्य पुरुषों को चोर डाकू कहते हैं और उनको मार डालना पाप नहीं बल्कि पुण्य समझते हैं—विनष्टिवादी तो इनसे भी बढ़ कर हैं। वह कहते हैं कि मनुष्य सर्वप्रकार पूर्णतया स्वतन्त्र होना चाहिये, उस के जी में आवे सो करे किसी को उसके कार्य्यों में हस्तक्षेप न करना चाहिये। चाहे एक व्यक्ति कैसा ही कर्म करे जिस को अन्य जन महाकुत्सित समझते हों परन्तु उन को कोई अधिकार नहीं है कि उससे यह भी कहें कि तू क्या कर रहा है?—इस लिये यह चाहते हैं कि आधुनिकसमाज की जितनी स्थापनाएं कार्य्यालय, न्यायालय, सेना, विद्यालयादि हैं उनको नष्ट कर दिया जावे और मनुष्यों को सर्वथा पशुओं के समान स्वच्छन्द बना दिया जावे—आश्चर्य्य है कि लोग ऐसे २ पैशाचिक विचारों के प्रचार करने में तनिक भी सङ्कोच नहीं

करते मेरी सम्मति में तो यह लोग मनुष्य के सब से बड़े शत्रु हैं। अब हमें यह देखना है कि पुरानी वैदिक वर्णव्यवस्था को पुनर्जीवित करने से भी समाज का संशोधन और दूषणों की निवृत्ति हो सकती है वा नहीं? हम यह जान चुके हैं कि मनुष्य समाज का आदर्श यह है कि उसमें सब व्यक्तियों को अपनी शारीरिक और आत्मिक शक्तियों के विकाश का पूरा अवसर मिले और लोगों में दूसरों के लाभ में अपना लाभ और हानि में हानि समझने का भाव उत्पन्न हो और वह सदा इसी लक्ष्य को सामने रख कर काम करें— हम ने यह भी देख लिया है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है दूसरों को हानि पहुंचाने में उस को तनिक भी सङ्कोच वा शङ्का नहीं होती इस लिये सब से पहिली आवश्यकता यह है कि उस का यह स्वभाव बदलने का और उस की परोपकार वृत्तियों के दृढ़ करने का यत्न किया जावे और ऐसा यत्न मनुष्य को बचपन से ही ऐसी शिक्षा देने और उसके शरीर को पुष्ट बनाने से हो सकता है जिससे वह दूसरों से सहानुभूति करना उनके दुःख को दूर करना स्वार्थ को दबाना सीखे और जीवन रणभूमि में कठिन से कठिन कार्य्यों के करने में समर्थ हो और अपने शरीर को नीरोग रख सके ऐसी शिक्षा प्राचीन काल में गुरुकुल द्वारा दी जाती थी ५ से १२ वर्ष की आयु के बालक गुरुकुल में २५ वर्ष की वा इससे भी अधिक अवस्था

तक सदाचारी परोपकारी विद्वानों के साथ रह कर शिक्षा पाते थे। गुरुजन का कर्त्तव्य था कि ब्रह्मचर्य्य का पालन कराकर उनके शरीरों को पुष्ट और बलिष्ट बनावें, उनको सदाचार और परोपकार की शिक्षा देवें, दीन दरिद्र दुःखी लोगों से सहानुभूति करना उनकी सहायता करना सिखावें, कर्त्तव्यपरायणता का उपदेश देवें पहिला लाभ गुरुकुल से यह होता था कि जब से बालक गुरुकुल में जाते थे उन के भरण पोषण का भार उनके माता पिता पर नहीं रहता था, दूसरे गुरु के दिन रात पास रह कर जो शिक्षा वह पाते थे उसको वह स्वीकार करके अपना जीवन उस पर ढालने का यत्न करते थे। मनुष्य समूह से अलग रहने के कारण संसर्ग जन्य दुर्व्यसनों और दुराचारों से पृथक रहते थे, सब प्रकार की चिन्ता से मुक्त होने के कारण शिक्षा में मन लगाते थे। ब्रह्म-चर्य्य पालन, श्रम शील होना, और खोटी बातों से दूर रहने के कारण उनके शरीर पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होते थे और सुन्दर सुडोल और बलिष्ट और नीरोग रहते थे। सब ब्रह्मचारियों के साथ एकसा वर्त्ताव होने के कारण उन में भ्रातृभाव उत्पन्न होता था और वह मनुष्यमात्र को अपना भाई समझते थे। जिस प्रकार की गुरु उन में योग्यता देखता था उसी प्रकार की शिक्षा उन्हें देता था आजकल जैसी बेढङ्गी शिक्षा होती है उसका नाम भी न था। यदि कोई कलादि के बनाने और चलाने में चातुर्य्य प्रकट करता था तो उसको वैद्यक

नहींपढ़ाई जातीथी,न गणितचतुर को चित्रकारी सिखाई जाती थी। आजकल इस से भी महाहानि होरही है कि हमारे काम अनधिकारियों के हाथों में हैं-आज कल हम देख रहे हैं कि वैश्य वृत्ति का मनुष्य जिसका मुख्य धर्म धनोपार्जन कृषिकर्मादि होना चाहिये समाज में धर्म का उपदेशक बना हुआ है-इसी से महाहानि हो रही है, कोई काम ठीक नहीं होता क्योंकि योग्यतानुसार कर्म विभाग नहीं हैं। प्राचीन समय में पुनरावर्तन अर्थात् शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् गुरुकुल से बाहर आने के समय गुरुजन मनुष्य का वर्ण स्थिर कर देते थे- यदि कोई शौच, सन्तोश, तप, परोपकारिता, विद्वत्ता, विनय आदि गुणों से अलंकृत होता था और मनुष्यों को धर्म पथपर चलाने वैदिक मर्यादा के स्थिर रखने के योग्य होता था तो उस को ब्राह्मण पदवी दी जाती थी-यदि कोई वीरता, निर्भयता, धैर्य,पराक्रमादि गुणों से अन्वित होता था-दीन अनाथों की सहायता करने और अन्याय, अत्याचार से घृणा का भाव रखने वाला होता था तो वह क्षत्रिय पदवी का अधिकारी समझा जाता था जो कला कौशलादि में निपुण, धनोपार्जन के उपायों में चतुर, व्यवसायी, पुरुषार्थी, दान शील होता था उसको वैश्य उपाधी दी जाती थी और जो विद्या से रहित परन्तु दूसरे वर्णों की सेवा करने के योग्य परिश्रमी होता था वह शूद्र कहलाता था-इस से गुण कर्मानुसार कार्य्य

विभाग हो जाता था और हर एक अपने २ कार्य्य को दक्षता और सुन्दरता के साथ करता था जिस से स- माज का कार्य्य भली भांति होता रहता था-सब के भाव उच्च, निस्वार्थी परोपकारमय होने से कोई किसी को दुःख न पहुंचाता था-आज कल के सी गड़ बड़ नथी कि जिस को देखो बच्चे से लेकर बूढ़े तक धन की दौड़ धूप में लगा हुआ है। कार्य्य विभाग हो जाने से कोई किसी के कार्य्य में बाधा न डाल सकता था-बालकों और स्त्रियों को पेट के लिये श्रम करने की आवश्यकता न होती थी-यह भी न था कि लोग एक ही कार्य्य को मरण पर्य्यन्त करते रहें-यदि कोई वैश्य ब्राह्मणत्व के गुण उपार्जन कर लेता था तो वह वैश्य कोटि से निकल कर ब्राह्मण समूह में चला जाता था-जन्म से वर्ण व्यवस्था का टण्टा जो आजकल पड़ा हुआ है और जिसने हम को अवनति के मार्ग में ढकेल रक्खा है नथा-दस सन्तान से अधिक न उत्पन्न करने की वैदिक आज्ञा का पालन होने से जन संख्या न कम होने पाती थी न अधिक होने पाती थी-श- रीर सब के पुष्ट होने से रोगाक्रमण से मुक्त रहते थे- चूंकि सब अपनी २ योग्यतानुसार और अपनी २ प्र- कृति के अनुकूल कार्य्य करते थे इसकारण सब कार्य्य उत्तमता से होते थे और समाज की दिन प्रतिदिन उन्नति होती रहती थी-दुराचारी मनुष्य का उच्च पदवी पर पहुंचना असम्भव था-समाज की सम्मति

ऐसी प्रबल थी कि यदि कोई अपने कर्त्तव्य को भूलता था वा उस के विपरीत काम करता था तो उस को नीच समझा जाता था और वह सब का घृणास्पद हो जाता था–ब्राह्मण कभी धनोपार्जन की ओर ध्यान ही न दे सकता था–क्षत्रिय अपने कर्त्तव्य से विमुख न हो सकता था–वैश्य धनोपार्जन करते थे, उस को परोपकार में लगाने के लिये न कि इन्द्रियाराम और विषय भोग के लिये । यह नहीं था कि आप तो अभ्रंलिहाग्र प्रासादों में रहें और उस की कोठी के काम करने वालों के पास मिट्टी का झोंपड़ा भी न हो–आप दिव्यभोजन करें उन के हाथ रोटी भी न आवे–गृहस्थ के पश्चात् लोग संसार के सुखों को छोड़ कर आत्मोन्नति के साधन करते थे और परोपकार व्रत धारण करते थे–गृहस्थियों का यह धर्म था कि परोपकारी विद्वान् अतिथियों को भोजनादि का कष्ट न होने दें-इस प्रकार समाज कभी अपने आदर्श से गिरने न पाता था–सब व्यक्ति अपना २ कार्य्य करते हुए समाज का हित साधन करते थे और अपना भी कल्याण करते थे–एक व्यक्ति दूसरे को हानि न पहुंचा सकता था और मनुष्यसमाज सच्चे अर्थों में पुरुष था जिसका मुख ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय, ऊरू वैश्य और पद शूद्र थे–यदि अब भी वैदिक वर्णव्यवस्था के पुनरुद्धार करने की चेष्टा कीजावे तो फिर भी वह सुन्दर दृश्य हमारे सामने उपस्थित हो सकता है और समाज संशोधन के प्रश्न का सन्तोषदायक उत्तर मिल सकता है–

विवाद ।

१ निबन्ध पढ़े जाचुकने पर सभापति ने समालोचक महाशयों से उठ कर समालोचना करने की प्रार्थना की । सब से प्रथम स० ब्रह्मवीरजी उठे। आपने सब से प्रथम यह दिखाने का यत्न किया कि Sociolism के सिर जो अराजक आदि सम्प्रदायों का फैलाना मढ़ा जाता है-वह सर्वथा अशुद्ध है । इस में बड़ा प्रमाण आपने यह दिया कि यद्यपि हर्बर्टस्पेन्सर और कौण्ट टौल्स्टौय सोशलिस्ट हैं तथापि वे अराजकता आदि सम्प्रदायों और तद्द्वारा स्वीकृत साधनों को घृणित समझते हैं । तत्पश्चात् आपने यह दिखाया कि बड़े २ दार्शनिकों का यह निश्चित विचार हो चुका है कि अनन्त शान्ति के लिये क्रान्ति या विक्षोभ आवश्यक है । जब तक अत्यन्त विक्षोभ न हो तब तक कभी भी अत्यन्त शान्ति का होना असम्भव है । अतः बिना क्रान्ति या revolution के इस समय मनुष्यों में फैला हुवा असमानता और ऊंचनीच का भाव नष्ट नहीं होसक्ता ।

२ तत्पश्चात् पण्डित पूर्णानन्दजी ने केवल इतना ही कहा कि यद्यपि मेरी सारे निबन्ध से सर्वथा सहमति है तथापि स्वार्थत्याग का उदाहरण देते हुवे निबन्धकर्त्ता ने जो भीष्म की प्रतिज्ञा का वर्णन किया है वह सर्वथा अनुचित है-भीष्म का वह कार्य्य किसी तरह भी प्रशंसनीय नहीं कहा जासक्ता । और साथ ही

आपने यह भी कहा कि केवल कहने से संसार में कभी वर्णव्यवस्था का प्रचार न होगा-इसके प्रचारार्थ कोई न कोई साधन सोचने आवश्यक हैं।

३ तत्पश्चात् बाबू ब्रह्मानन्दजी ने बाबू ब्रह्मवीर जी के इस कथन का कि शान्ति के लिये रिवोल्यूशन या क्रान्ति आवश्यक है खण्डन करते हुवे कहा कि क्रान्ति शान्ति दशा में विक्षोभ को कहते हैं। उस से संसार में कभी शान्ति नहीं फैलती। एक दर्शनकार का कथन है "उपदेश्योपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः इतरथाऽन्धपरम्परा" अर्थात् संसार में शान्ति फैलाने का सब से मुख्य साधन उपदेश्य पुरुषों को उपदेश द्वारा सीधे रास्ते पर लाना है। अपनी जान को ख़तरे में डालकर अपनी पूर्णाहुति करके जो लोग सत्य का प्रचार तथा परोपकार करना चाहते हैं वे ही धन्य हैं अपने लाभार्थ दूसरों को क्लेश देनेवाले लोग असज्जन कहाते हैं।

४–तत्पश्चात् स्वामी सत्यानन्दजी ने यह दिखाया कि प्राचीन समय में यदि शान्ति थी तो वर्णव्यवस्था के प्रचलित होने के ही कारण थी। साथ ही आपने यह भी बताया कि संसार में प्रेमधर्म का नाश होना ही सब विपत्तियों का मूल है-सोशलिज़म से प्रेम धर्म स्थिर नहीं रह सक्ता, अतः सोशलिज़म किसी काम का नहीं।

५ तत्पश्चात लाला वज़ीरचन्दजी उठे। आपने कहा कि अभी सोशलिज़िम के सिद्धान्त और कार्य्य सिद्धि

के साधन निश्चित नहीं हुवे हैं, और साथ ही सोश-लिज़्म मनुष्य का स्वाभाविक धर्म नहीं किन्तु विशेष दुःखित दशा से छूटने का एक उपाय है। मनुष्य का स्वाभाविक धर्म ही मनुष्य को उन्नत करसक्ता है ऐसे २ नैमित्तिक साधन मनुष्य समाज को उन्नत नहीं करसक्ते। मैलथ्यूइसथ्यूरी जैसी अस्वाभाविक अनिष्ट और कृत्रिम उपाय संसार को उन्नत नहीं कर सक्ते। साथ ही सोशलि-ज़्म ने आज तक किसी देश को उन्नत नहीं किया। परन्तु हम कह सक्तें हैं कि वर्णव्यवस्था ने पुराने भारतवर्ष को बहुत उन्नत कर रक्खा था॥

६–तत्पश्चात् पं० विश्वम्भरनाथ जी बी० ए० प्लीडर निबन्ध के समालोचनार्थ उठे। आपने कहा कि वर्णव्यवस्था तथा सोशलिज़्म में सम्मिलान करना चार भेड़ों तथा पांच बकरियों के त्रैराशिक सम्बन्ध लगाने के समान है। क्योंकि ये दोनों एक श्रेणि के नहीं। सोशलिज़्म के मत्थे जो अनार्किज्म और निहलिज़्म मढ़े जाते है वह ठीक नहीं। यदि थोड़े से अनार्किस्ट, सोशलिस्ट भी थे तो इससे यह सिद्ध नहीं होसक्ता कि सोशलिज़्म और अनार्किज़्म एक ही चीज़ हैं। यदि किसी अच्छे सिद्धान्त के प्रचार से एक अधीर पुरुष बुरा परिणाम निकाल ले तो इसका कह भावार्थ न होगा कि वह अच्छा सिद्धांत ही बुरा है। यदि equality अर्थात् समानता के सिद्धांत का प्रचार करने से लोग बम् आदि का प्रयोग करने लगें तो इससे वह अकाट्य सिद्धान्त अयोग्य नहीं हो

सक्ता। सोशलिज़्म को योग्य निबन्धकर्त्ता ने एक असम्भव स्वप्न कहा है, सोशलिज़्म पर आपने यह आक्षेप किया है कि लोगों में इतनी अस्वार्थ वृत्ति ही नहीं आसक्ती कि वे अपनी धन सम्पत् त्याग दें। यही आशङ्का वर्णव्यवस्था पर भी होसक्ती है। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार भी तो धन कमाने का अधिकार केवल वैश्य को है, वहां भी यदि वह ब्राह्मणों या क्षत्रियों को उनका यथार्थ भाग न दे तो क्या किया जायगा? फिर भी तो गवर्नमेण्ट को ही हस्ताक्षेप करना पड़ेगा अन्त में बात सोशलिज़्मवाली ही रही, फिर भी वैसे ही राज्यके अधिकार बढ़ेंगे इसी लिये अनार्किज़्म को सोशलिज़्म के मत्थे मढ़ना ठीक नहीं। जिस सोशलिज़्म का दारोमदार ही गवर्नमेण्ट की शक्ति की वृद्धि पर अवलम्बित है वह सोशलिज़्म अराजकता फैलाने का हेतु कैसे होसक्ता है? सोशलिज़्म उस सिद्धान्त को कहते हैं जो कि व्यक्तियों की स्वाधीन व्यक्तिता का ह्रास तथा सामाजिक शासन या state की शक्ति को बढ़ाने की तरफ़ झुकता है। अतः रेल तार आदि सभी गवर्नमेण्ट के समाज हितार्थक कार्य्य सोशलिज़्म के उद्भव हैं क्या आप इन्हें बुरा कह सक्ते हैं? यदि नहीं तो फिर सोशलिज़्म सर्वथा हेय कैसे हो सक्ता है? सोशलिज़्म को असम्भव कहना सर्वथा ग़लत है। सोशलिज़्म का सम्बन्ध मानुषिक सम्पत्ति या wealth से है। सम्पत्ति एक प्राकृतिक चीज़ है

उसका प्राकृतिक विभाजन मनुष्य के लिये असम्भव नहीं, अतः सोशलिज़म की कार्य्य नीति को असम्भव कहना अशुद्धि है। वस्तुतः बात यह है कि सोशलिज़म के पश्चात् वर्णव्यवस्था हो सक्ती है, उससे प्रथम नहीं आदर्श दोनों का एक है; परन्तु सोशलिज़म उसकी प्रथम पीढ़ी है और वर्णव्यवस्था दूसरी। सोशलिज़म पर आक्षेप करने सुलभ हैं, क्योंकि वह संसार में प्रचलित हैं, तथा मनुष्य दोष से सब प्रचलित मत किसी न किसी अंश में दोषयुक्त होजाते हैं, परन्तु, वर्णव्यवस्था कहीं प्रचलित नहीं उस पर ऐसे आक्षेप कोई नहीं करता, बात यह है कि दोनों में गुण दोष एक से हैं। परन्तु सोशलिज़म वर्णव्यवस्था के प्रथम अवश्य विस्तृत होगा॥

७—तत्पश्चात् पं० भूमित्र शर्मा ने वर्णव्यवस्था के पक्ष में यह सम्मति दी कि वह वेदोक्त होने से माननीय है सोशलिज़म नहीं॥

८—तत्पश्चात् पं० अखिलानन्द शर्म्मा कविरत्न ने बतलाया कि वर्णव्यवस्था का प्रचार तभी होगा जब कि गुरुकुल प्रणाली प्रचलित होगी। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों में निःस्वार्थतादि भाव होने से वर्णव्यवस्था के प्रचार में बाधा न पड़ेगी।

९—तत्पश्चात् पं० ठाकुरदत्त वैद्य ने वर्णव्यस्था के प्रचार की असम्भवता दर्शाते हुवे पूछा कि वह कौनसा ऐतिहासिक समय था जब कि एक ब्राह्मण पुत्र अपने

क्षत्रिय पिता का घर छोड़ कर एक ग़रीब ब्राह्मण के घर चला जाता था?और एक क्षत्रिय बालक शूद्र पदवी पाकर, अपना राजगृह छोड़ किसी कहार के घर चले जाने में राजी होता था ?

१० तत्पश्चात् पं० गङ्गादत्तजी ने भी वर्णव्यवस्था का वेदोक्त होना कह कर उसकी प्रतिपाद्यता बतलाई।

इन सब समालोचकों के बोल चुकने पर निबन्ध कर्त्ता ने सब आशङ्काओं का प्रत्युत्तर दिया आपने कहा

(प्रत्युत्तर)

यह कहना ठीक नहीं कि सोशलिज़्म और वर्ण-व्यवस्था में कोई समानता नहीं,दोनों ही सामाजिक संशोधन के उपाय हैं—अतः दोनों में उत्तमता तथा अधमता का विचार करना अप्रासङ्गिक नहीं। यह भी प्रश्न किया गया है कि अनार्किज़्म, सोशलिज़्म का उद्भव नहीं हैं परन्तु भोजन के स्वाद में प्रमाण भोजनानन्तर स्वाद की प्रतीयमानता ही है, जब हम देखते हैं कि सोशलिस्टों अनार्किस्टों और निहलिस्टों के सिद्धान्त एक हैं—और हमें यह भी पता है सोशलिज़्म तीनों सम्प्रदायों में से पुराना है तो यह भावार्थ बड़ी सुगमता से निकल आता है कि सोशलिज़्म ही इन दोनों घातक सम्प्रदायों का मूल है। हम देखते हैं कि हरएक अनार्किस्ट सोशलिस्ट होता है—यह और बात है कि हर एक सोशलिस्ट अनार्किस्ट न हो।

भेद इतना ही है कि अगर सोशलिस्ट एक कोस तक चल कर रह जाता है तो अनार्किस्ट उस से दो क़दम और आगे बढ़ जाता है। परन्तु जाते दोनों एक ही रास्ते हैं। यह कहा गया है कि अनन्त शान्ति के लिये revolution ज़रूरी है-परन्तु यह उसी अवस्था में ठीक होसक्ता है यदि अनन्त शान्ति का और कोई उपाय न बचा हो। वर्णव्यवस्था जैसे शान्तिमय उपाय के होते हुवे revolution या अनार्किज़्म जैसे अशान्तिमय उपाय का अवलम्बन मूर्खता है। हर्बर्टस्पेन्सर को सोशलिस्ट कहना ग़लती है-उसने कभी सोशलज़िम के सिद्धान्तों को ऊंचा पद नहीं दिया। हम मानते हैं कि सोशलिज़्म का आदर्श बुरा नहीं-परन्तु उस के साधन आक्षेपणीय हैं। सब से बड़ा आक्षेप जो मैंने सोशलज़िम पर किया था और जो अब तक अखण्डित बना है यह है कि वह संसार की उन्नति के एकमात्र साधन स्वत्व या आत्मीयता को नष्ट कर देता है। यदि दार्शनिक और एक मज़दूर को एकहीसा भोजन और व्ययादि मिले तो फिर दार्शनिक या कलावेत्ता होने की किसी को क्या ज़रूरत है? सोशलिज़्म की सब से बड़ी बुराई यह है कि वह चोरी करने में प्रवृत्ति कराती है। वह कैसे? वह ऐसे कि चोरी से कई लोग सिर्फ़ यह समझ कर घृणा करते हैं कि दूसरे की चीज़ को चुराना बुरा है। जब कोई भी चीज़ दूसरे की न रहेगी, तो फिर चोरी से कोई न

घबरावेगा। इस में दृष्टान्ततया एक अंग्रेज़ी लेखक का यह कथन पेश किया जा सक्ता है कि रेल के सामान को चुराना बुरा नहीं क्योंकि वह किसी एक की मल-कियत नहीं है। कहा जाता है कि सोशलिज़म से अनार्किज़म की उत्पत्ति कैसे हो सक्ती है जब कि सो-शलिज़म गवर्नमेण्ट की शक्ति को बढ़ाने पर स्थित है। परन्तु बात फिर वही होगी। जब गवर्नमेण्ट की शक्ति अधिक बढ़ेगी-तब स्वयमेव अनार्किज़म ज़ोर शोर से उत्पन्न होगा-जैसे कि फ़्रांस की राज्यक्रान्ति के समय हुआ था। एक महाशय ने शङ्का की थी कि ब्राह्मणपुत्र, क्षत्रिय पिता गृह में कैसे जावेगा? मेरा उत्तर यही है कि जैसे एक विद्वान् पुत्र एक अनपढ़ पिता के घर जाता है।

निबन्धकर्त्ता के उत्तर दे चुकने पर सभापति ने निगमन किया।

(सभापति की वक्तृता)

सभापति ने कहा कि 'यद्यपि मैं इस विषय का पण्डित नहीं हूं और मेरी न ही इस समय इस विषय में कोई ख़ास तय्यारी है-तथापि मैंने विवाद सुनकर जो दो एक संशयास्पद बातें समझी हैं-उन पर केवल एक प्रार्थनावृत्त्या कुछ कहूंगा-इस विचार से नहीं कि मैं कुछ इस विषय में अधिक विज्ञ हूं। सोशलिज़म और वर्णव्यवस्था में चार मुख्य भेद' हैं-जिन को दे-

खने से उत्तम या अधम का विचार हो सकता है। प्रथम भेद इन में यह है कि सोशलिज़म मनुष्यों को जड़ बनाता है उस की क्रियाओं को मशीन की क्रियाओं के समान बना देता है-परन्तु वर्णव्यवस्था मनुष्य को चेतन बनाती है उस की क्रियाओं की बुद्धिपूर्वकता स्वीकार करती है। दूसरा भेद यह है कि यदि सोशलिज़म का प्रचार होगा तो प्रान्तिक भेद नष्ट न होंगे-इङ्गलिश सोशलिज़म पृथक् होगा और इण्डियन सोशलिज़म पृथक्। परन्तु वर्णव्यवस्था सारे संसार की एक हो सक्ती है-उस में प्रान्तिकभाव उदित नहीं होता-अर्थात् सारे संसार में भ्रातृभाव नहीं फैल सक्ता जब तक कि वर्णव्यवस्था का प्रचार न हो। तृतीय भेद यह है कि सोशलिज़म का प्रबन्ध दृढ़ नहीं रह सक्ता। एक State या प्रान्तीयराज्य के प्रबन्धार्थ यदि नृपति निश्चित न होगा तो कोई न कोई दस बीस आदमियों की सभा तो अवश्य निश्चित होगी। सम्भवतः वह चुनाव द्वारा निश्चित होगी। चुनाव में जो २ हानियें असत्यतायें और अमनुष्यतायें की जाती हैं वे सब को प्रतीत ही हैं। परन्तु वर्णव्यवस्था में इस असत्यता को स्थान नहीं। चतुर्थ भेद इन दोनों में यह है कि वर्णव्यवस्था का आधार धर्म है और सोशलिज़म में धर्म को स्थान नहीं। इन चार भेदों के रहने से वर्णव्यवस्था ही श्रेष्ठ है।

सभापति के बोल चुकने के अनन्तर ब्रह्म० हरिश्चन्द्र के बनाये हुवे निम्नलिखि श्लोक सभा में पढ़े गये—

१

विभिन्नप्रान्तेभ्योऽभ्युदितमुदमभ्यागतवतां,
विचारव्यासङ्गादिह गुरुकुले संगतवताम्,
निरायासं सारस्वतचरणसेवाधृतधियां,
कृपावारां राशिर्दिशतु भवतां मङ्गलविधिम् ॥

२

अविद्याप्राबल्यं विलयमयतां भारतभुवि,
स्फुटज्ञानज्योत्स्नाऽभ्युदयविधिमीयात् पुनरपि,
नवोत्साहोत्ताम्यद्व्रतिरतिसुधासिक्तवसुधा,
बुधप्रीतिस्फीता स्फुरतु भुवि साहित्यपरिषत् ॥

३

अये विद्वद्वाणि! त्यज निजशुचः, स्फूर्तिमततताद्,
दृशोरश्रुस्रोतस्तव भवति षडदर्शनिकुतः?
परिम्लानज्ञानद्रुमसमुदितप्राणनकृते,
यतः सद्भिर्विद्भिर्भरतभुवि बद्धः परिकरः ॥

४

इयं निद्रामुद्रा सपदि भवतु द्रागपगता
नवस्फूर्तिः काचित् स्फुरतु हृदये भारतविदाम्
सभासु प्राज्ञानामथ नवनवान्वेषणफलाः
प्रवर्तन्तामद्य प्रणयमधुरा वादविषयः

९

प्रथन्तां साहित्याद्भुतशशिकला नित्यविमलः
लभन्तां लोकेऽस्मिन्ननुपधि यशः काव्यकृतिनः
लसल्लीलाऽऽवेशादथ विरचितां बालमतिना
विदन्तः स्वीयन्तु प्रणयप्रदपुष्पाञ्जलिमिमाम् ॥

श्लोक पढ़े जानेके अनन्तर सभापति ने सब समागत विद्वानों का साहित्य परिषद् की ओर से धन्यवाद किया, तथा आशा प्रकट की कि सब सज्जन एक वर्षके पश्चात् फिर इसी स्थान पर उपस्थित होकर हम सब लोगों को कृतार्थ करेंगे ॥

इतिशम्

॥ ओ३म् ॥

* अशुद्धिपत्रम् *

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पङ्क्तिः
समगच्छन्	समगच्छन्त	९	१६
कविरत्नोऽ	कविरत्नम	१०	१
वारंबार	बारंबार	१९	३
व्राता	त्राता	,,	८
पतञ्जलर	पतञ्जलेर	१७	३
सरक्षका	संरक्षका	,,	१९
नासकला	नाट्यकला	४९	३
सखायाः	सखायः	,,	१९
यद्य	द्य	४६	८
चन्द्रमसे	चन्द्रमसो	७१	८
दूष्यते	दूष्यन्ते	७३	१२
ब्रह्मणादि	ब्राह्मणादि	७४	९
Chicogs	Chicago	८९	२०
Nihitism	Nihilism	१०९	७
Sociolism	Socialism	११९	४